UGST - 07

संस्कृत

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

खण्ड - एक

ईशावास्योपनिषद्

प्रथम - इकाई ईशावास्योपनिषद्	5
द्वितीय - इकाई प्रमुख उपनिषदों का परिचय	9
तृतीय - इकाई उपनिषद् की प्रतिपादन शैली	35
चतुर्थ - इकाई मन्त्र (1-5)	40
पंचम - इकाई मन्त्र (6-12)	46
षष्ठ - इकाई मन्त्र (13-18)	52

परामर्श-समिति

प्रो0 केदार नाथ सिंह यादव	कुलपति - अध्यक्ष
डॉ0 हरीशचन्द्र जायसवाल	कार्यक्रम - संयोजक
श्री मिठाई लाल कनौजिया	कुलसचिव - सचिव

विशेषज्ञ-समिति

1- प्रो0श्री नारायण मिश्र	सेवानिवृत्त प्रोफेसर, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
2- प्रो0 युगल किशोर मिश्र	संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी
3- प्रो0 हरे राम त्रिपाठी	म0 गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी
4- प्रो0 श्रीकिशोर मिश्र	काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सम्पादक

प्रो0 के0 पी0 सिंह — वरिष्ठ परामर्शदाता (संस्कृत)

लेखिका

प्रो0 विमला कर्णाटक — काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

डॉ0 अरुण कुमार गुप्ता
उत्तर प्रदेश राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की ओर से श्री डी.पी.त्रिपाठी, कुलसचिव द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित, सितम्बर, 2016
मुद्रक- चन्द्रकला यूनिवर्सल प्राइवेट लिमिटेड, 42/7 जवाहरलाल नेहरू रोड, इलाहाबाद

पाठ्यक्रम-परिचय

भारतीय संस्कृति का मूलग्रन्थ 'वेद' है। वेद की अन्तिम शब्दराशि उपनिषद् नाम से विख्यात है। उपनिषदों की संख्या शताधिक है किन्तु मुख्य ग्यारह उपनिषदें हैं। इन प्रमुख उपनिषदों में ईशावास्योपनिषद् का प्रथम स्थान है। अष्टादश मन्त्रों से सुसंबद्ध यह क्षधुकाय उपनिषद् है। इस उपनिषद् का नामकरण इसके प्रथम मन्त्र के आधार पर हुआ है। मनुष्य कैसे अभ्युदय और निःश्रेयस् को प्राप्त कर सकता है, इसका दर्शनसम्मत व्याख्यान शंकराचार्य की टीका में अवलोकनीय है।

इकाई 1 - ईशावास्योपनिषद्

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 दर्शनशास्त्र का अर्थ

1.3 वेदान्तर्गत उपनिषदों का नाम संकीर्तन

1.0 उद्देश्य

- इस इकाई में वेद के अन्तिम भाग उपनिषदों का सामान्य परिचय दिया गया है।

इस इकाई के अध्ययन के बाद आपः

- मानव जीवन के उद्देश्य को समझ सकेंगे;
- मानव के उत्कर्ष में उपनिषदों की भूमिका समझ सकेंगे;
- आत्मा-परमात्मा, जीव-जगत् माया-गुण आदि के विषय में समझ सकेंगे;
- दर्शनशास्त्र के विषय में समझ सकेंगे;
- उपनिषदों की संख्या एवं उनके वेदान्तर्गत होने को समझ सकेंगे;
- प्रमुख उपनिषदों के प्रतिपाद्य विषय को समझ सकेंगे;
- ईशावास्योपनिषद् के महत्त्व को समझ सकेंगे;
- मन्त्रों की सन्दर्भसहित व्याख्या कर सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

पुरोदृश्यमान जगत् में हम सब मनुष्य अपने अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। नानाविध जीवधारी हमें दिखलाई पड़ते हैं। इनको संख्यायित करना हमारे वश में नहीं है। जब हम संस्कृत वाङ्मय के दर्शन प्रभाग में दृष्टि डालते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि हमारे ऋषि-महर्षियों, जिनकी गौरवशाली परम्परा है, ने अपनी दिव्या मेधा से इन सभी बिन्दुओं पर गहन चिन्तन किया है। इस सन्दर्भ में सांख्यदर्शन के प्रणेता महर्षि कपिल के सांख्यसूत्रों पर आधारित ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका की एक कारिका अत्यन्त सहायकीभूत है। कारिका इस प्रकार है–

अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति।

6

मानुष्कश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः॥

इस कारिका के अनुसार मनुष्र को भौतिक सर्ग में रखा गया है। ईश्वरकृष्ण के अनुसार आठ प्रकार के देव (ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र, पैत्र, गान्धर्व, याक्ष, राक्षस तथा पैशाच), पाँच प्रकार की तिर्यग्योनि (पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप तथा स्थावर) तथा एक प्रकार के मनुष्य (मनुष्यत्व) अर्थात् मानुषसर्ग को मिलाकर 'भौतिक सर्ग' बनता है। भौतिक सर्ग के अन्तर्गत आने वाला मनुष्य सांख्य की शब्दावली में प्रत्ययसर्ग से समन्वित है। भौतिक सर्ग से प्राणी के स्थूलशरीर का ग्रहण होता है तथा प्रत्ययसर्ग स्थूलशरीर के अन्दर रहने वाले सूक्ष्मशरीर का बोधक है।

'उपनिषद्' मनुष्य को उसके अस्तित्व का बोध कराती हुई उसके आत्मोत्थान का मार्ग प्रशस्त करती है। मनुष्य अपने में अन्तर्निहित साधुता का विकास तभी कर सकता है जब वह उपनिषद् के अमर सन्देश को अपने जीवन में उतारता है। जब धर्म और मोक्ष के दो तटबन्धों के मध्य अर्थ और काम की जीवनधारा प्रभावित होती है। अभ्युदय और निःश्रेयस् सिद्धि उपनिषद् वाणी की फलाभिसन्धि है।

1.2 दर्शनशास्त्र का अर्थ

दृश्यते अनेन इति दर्शनम् इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसके द्वारा देखा जाय उसे दर्शन कहते हैं। दर्शन शब्द का सामान्य अर्थ ज्ञान है। दृश् धातु सकर्मक है। ज्ञान कर्मसापेक्ष होता है। चक्षुरादि पाँच इन्द्रियों से होने वाले रूपादिज्ञान को दर्शन (चाक्षुषप्रत्यक्ष, स्पार्शनप्रत्यक्ष, श्रावणप्रत्यक्ष, जिह्वाग्रप्रत्यक्ष तथा नासिकाग्रप्रत्यक्ष) कहते हैं। चक्षुरादि इन्द्रियों के द्वारा होने वाला रूपादि ज्ञान प्रयत्ननिरपेक्ष एवं सहज है। यह मूर्ख-विद्वान् सबको समान रूप से होता है। किन्तु यहाँ जिस दर्शन शब्द को प्रतिपादित किया जा रहा है वह विशिष्टज्ञान प्रयत्नसापेक्ष एवं साधनागम्य है। सरल शब्दों में सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट विषयविषयक ज्ञान को दर्शन कहते हैं। सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय की रहस्यमयी क्रियाएँ दर्शन की परिधि में आती हैं। शक्ति-शक्तिमान् विषय के असंख्य प्रश्न आज तक कौतुक की सीमा में आते हैं। इस विषय के असंख्यात उत्तरों ने उपनिषद्कारों को अन्त में 'नेति-नेति' के द्वारा मौन हो जाने के लिये बाध्य किया है।

तत्त्वज्ञान के साधन को शास्त्र कहते हैं। यह दर्शनशास्त्र दो प्रकार का है-आस्तिक दर्शन तथा नास्तिक दर्शन। **आस्तिक दर्शन छह** हैं–सांख्य-**योग, न्याय-वैशेषिक,** मीमांसा-**वेदान्त।** वचन है–

द्वौ योगौ द्वे च मीमांसे द्वौ तर्काविति षड् बुधाः इति।

नास्तिक दर्शन भी छह हैं-चार्वाक, सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार, माध्यमिक तथा जैन।

वेदनिन्दको नास्तिकः इस वचन के अनुसार वेद के प्रामाण्य को स्वीकार न करने वाले को नास्तिक कहते हैं। एतद्विधया वेदानुमोदित ग्रन्थ को आस्तिक दर्शन कहते हैं।

दर्शनशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय उतना ही अनादि है, जितना वैदिक विषय। मानवजाति की शास्त्रविषयिणी जिज्ञासा उतनी ही पुरातन है, जितना मानवजीवन। जिज्ञासाबीज का समाधानवृक्ष प्रत्येक युग में अवश्य भिन्न-भिन्न आकृतियाँ धारण करता गया।

1.3 वेदान्तर्गत उपनिषदों का नामसंकीर्तन

उपनिषद्यते प्राप्यते ब्रह्मविद्या अनया इति, इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसके द्वारा ब्रह्मविद्या प्राप्त की जाती है उसे उपनिषद् कहते हैं। 'उप' और 'नि' उपसर्गपूर्वक सद् धातु से क्विप् प्रत्यय करके 'उपनिषद्' शब्द निष्पन्न होता है। वेद का अन्तिम भाग होने से उपनिषद् को वेदान्तशास्त्र भी कहते हैं। मेदनी में उपनिषद् को निर्जनस्थान कहा है।

'उपनिषद्' शब्द में जिस 'सद्' धातु का प्रयोग हुआ है वह सिद्धान्तकौमुदी के तुदादिगण में इस प्रकार पठित है–**षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु**

षद् (सद्) धातु के तीन अर्थ अध्यात्मविद्या के प्रसङ्ग में इस प्रकार समायोजित होते हैं–

1. 'विशरण' अर्थात् नाश होना-जिस विद्या से अविद्या नष्ट होती है।

2. 'गति' अर्थात् प्राप्ति होना-जिस विद्या से ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है।

3. 'अवसादन' अर्थात् शिथिल होना-जिस विद्या से विविध दुःखों का आत्यन्तिक एवं ऐकान्तिक नाश (शिथिलीकरण) होता है।

उपनिषद् को वेद का शिरोभाग कहा जाता है। प्रत्येक वेद के अन्तर्गत पृथक् -पृथक् उपनिषदें आती हैं। शब्दकल्पद्रुम कोश के उल्लेख के अनुसार 108 प्रामाणिक उपनिषदें हैं। ये उपनिषदें मुक्तिकोपनिषद् में चार वेदों के अन्तर्गत अधोलिखित प्रकार से उपवर्णित हैं–

1. सामवेद के अन्तर्गत सोलह उपनिषद् हैं-अव्यक्त, आरुणि, कुण्डिका, केन, छान्दोग्य, जाबालदर्शन, जाबाली, महत्, मैत्रायणी मैत्रेयी, योगचूडामणि, रुद्राक्ष, वज्रसूचिक, वासुदेव, संन्यास तथा सावित्री।

2. शुक्ल यजुर्वेद के अन्तर्गत उन्नीस उपनिषदें हैं– अतीताध्यात्म, ईशावास्य, जाबाल, तारसार, तुरीय, त्रिशिखी, निरालम्ब, परमहंस, पैङ्गल, ब्राह्मणमण्डल, ब्राह्मणद्वयतारक, भिक्षु, मन्त्रिका, मुक्तिका, याज्ञवल्क्य, वृहदारण्यक, शाट्यायणी, सुबाल तथा हंस।

3. कृष्ण यजुर्वेद के अन्तर्गत बत्तीस उपनिषदें हैं– अक्षि, अमृतनाद, अमृतबिन्दु, अवधूत एकाक्षरा, कठरुद्र, कठवल्ली, कलिसन्तरण, कालाग्निरुद्र, कैवल्य, क्षुरिका, गर्भ, तेजोबिन्दु, तैत्तिरीयक, दक्षिणामूर्त्ति, ध्यानबिन्दु, नारायण, पञ्चब्रह्म, प्राणाग्निहोत्र, ब्रह्म, ब्रह्मविद्या, योगकुण्डलिनी, योगतत्त्व, योगशिखा, वराह, शारीरक, शुकरहस्य, श्वेताश्वतर, सर्वसार, स्कन्द, सरस्वतीरहस्य तथा हृदय।

4 ऋग्वेद के अन्तर्गत दश उपनिषदें हैं-अक्षमालिका, आत्मप्रबोध, ऐतरेय, कौषितकी,

त्रिपुरा, नादबिन्दु, निर्वाण, मुद्गला, बह्वृच तथा सौभाग्य।

5. अथर्ववेद के अन्तर्गत इकत्तीस उपनिषदें हैं–अथर्वशिखा, अथर्वशिर, कृष्ण, गणपति,गारुड़, गोपालतापन, जाबाल, त्रिपुरातपन, दत्तात्रेय, देवी, नारदपरिव्राजक, नृसिंहतापनी, परब्रह्म, परिव्राजकान्नपूर्ण, परमहंस, पाशुपत, प्रश्न, भस्म, भावना, महानारायण, महावाक्य, माण्डूक्य, मुण्डक, रामतापनी, रामरहस्य, वृहज्जाबाल, शरभ, शाण्डिल्य, सीता, सूर्यात्म तथा हयग्रीव।

मुक्तिकोपनिषद् के अध्ययन से विदित होता है कि उपनिषदों की संख्या इससे भी कहीं अधिक रही। किन्तु आजकल इतनी उपनिषदें उपलब्ध नहीं हैं। अभी यह अनुसन्धान का विषय है।

द्वितीय इकाई- प्रमुख उपनिषदों का परिचय

इकाई की रूपरेखा

2.0 प्रमुख उपनिषदों का परिचय

2.1 ईशावास्योपनिषद्

2.2 केनोपनिषद्

2.3 कठोपनिषद्

2.4 प्रश्नोपनिषद्

2.5 मुण्डकोपनिषद्

2.6 माण्डुक्योपनिषद्

2.7 तैत्तिरीयोपनिषद्

2.8 ऐतरेयोपनिषद्

2.9 छान्दोग्योपनिषद्

2.10 बृहदारण्यकोपनिषद्

2.11 कौषीतक्युपनिषद्

2.12 श्वेताश्वतरोपनिषद्

2.0 प्रमुख उपनिषदों का परिचय

अमूल्यनिधिपरिपूरित संस्कृतसाहित्य की वैदिक ऋचाएँ अनादिकाल से मानवमात्र के लिये मार्गदर्शक रही हैं। भारतीय संस्कृति के आधारभूत वेदों की अन्तिम शब्दराशि ही उपनिषद् की संज्ञा से अभिहित है। भारतीय विचारधारा के विकासपथ में उपनिषदों का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। परवर्ती भारतीय दर्शन के सभी सिद्धान्तों का मूल उपनिषदों में ही निहित है।

उपनिषदों का अनुशीलन करने पर आधुनिक चिन्तक इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि उपनिषद्साहित्य वह ज्ञानमंजूषा है, जिसके आलोक में विज्ञजन की अन्तरात्मा आलोकित हो उठती है। इससे एक नवीन आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि तथा दार्शनिक तर्कप्रणाली प्राप्त होती है। भारतीय तत्त्वज्ञान का जितना उत्कृष्ट विवेचन उपनिषदों में मिलता है उतना अन्यत्र कहीं नहीं है। उपनिषदों के गर्भ में अनेकों रहस्य निहित हैं जिनका अवगुण्ठन हटाना सरल नहीं है, इसलिये उपनिषदों को अद्भुत रहस्यों की उद्भाविका कहा जाता है।

उपनिषदों में सर्वाधिक अमूल्य विचार वे हैं जिनकी आधारशिला पर समस्त दार्शनिक परम्परा टिकी है। उपनिषद्कारों की विचारधारा परमात्मा और जीवात्मा की दो कल्पनाओं के इतस्ततः संचरित होती रहती है। विश्वेश की यह सृष्टि कौतुकमयी है। अतः परमात्मा -ब्रह्म, जीव-प्राणी, माया-अविद्या, परिणाम-विवर्त, जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-संहार, भूत -भौतिक पदार्थ, प्रकृति -गुण, जड़-चेतन, बन्धन -मोक्ष, जन्म-मरण, श्रेय-प्रेय, जीवन्मुक्ति-विदेहमुक्ति, योग-योगसाधन, ज्ञानी-अज्ञानी, प्रत्यक्ष -परोक्ष, अनुमान-आगम, ज्ञानेन्द्रिय -कर्मेन्द्रिय, स्थूलशरीर -सूक्ष्मशरीर, ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय, ज्ञानी-अज्ञानी, जगत्-ब्रह्माण्ड बिम्ब-प्रतिबिम्ब, स्थूल-सूक्ष्म, अवतार-अवतारी, सगुण, निर्गुण, ज्ञान-कर्म- भक्ति मार्ग आदि नानाविध विषयों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन उपनिषद् साहित्य में हुआ है। उपनिषद्साहित्य को जिज्ञासाओं की समाधानभूमि कहा जाय तो अत्युक्ति होगी।

उपनिषदें न केवल आध्यात्मिकता की ही व्यञ्जना करती हैं अपितु हमारे नैतिक जीवन को भी आलोकित करती हैं। उपनिषदें समस्त परिधियों से ऊपर उठकर मानव को अन्तः प्रेरित करती हैं। उपनिषदें युग की दृष्टि से सुदूर होते हुए भी अपने चिन्तन से सुदूर नहीं हैं। वे जाति और भौगोलिक स्थिति के भेदों से ऊपर उठने वाली मानव आत्मा की प्रारम्भिक अन्तः प्रेरणाओं की क्रिया को उद्भासित करती हैं।

यद्यपि उपनिषदों में विभिन्न विचारधाराएँ प्राप्त होती हैं तथापि अन्ततोगत्वा सबका उद्देश्य; महासागर में विलीन असंख्य जलधाराओं की भाँति, मूलतः एक ही तत्त्व का प्रतिपादन करना है। जिसे कहीं सर्वोच्च सत्ता के रूप में माना गया है, कहीं आत्मा की संज्ञा प्रदान की गई है एवं अन्तिम स्वरूप में उसे ब्रह्म कहकर उद्बोधित किया है।

ज्ञातव्य है कि विषय प्रतिपादन की दृष्टि से आधुनिक अनुसन्धानकर्ताओं ने कुछ प्रमुख उपनिषदों को अधोलिखित प्रकार से वर्गीकृत किया है–

1. उपासनाप्रधान ज्ञानप्रतिपादक उपनिषद्–बृहदारण्यक तथा छान्दोग्य।
2. आचारप्रधान ज्ञानप्रतिपादक उपनिषद् - तैत्तिरीय तथा कौषीतकी।
3. सृष्टिप्रधान विकासवादी उपनिषद् - ऐतरेय, प्रश्न तथा छान्दोग्य।
4. निवृत्तिप्रधान ज्ञानप्रतिपादक उपनिषद् - मुण्डक, कठ, केन, ईशावास्य।
5. साधनाप्रधान ज्ञानप्रतिपादक उपनिषद् - श्वेताश्वतर तथा कठ।
6. अद्वैतप्रधान ज्ञानप्रतिपादक उपनिषद् - माण्डूक्य तथा मैत्रायणी।
7. धर्मसाधनाप्रधान उपनिषद् - वेदान्त, योग, शैव, शाक्त, वैष्णव आदि।

यहाँ पर द्वादश प्रमुख उपनिषदों का प्रतिपादन किया जा रहा है।

2.1 ईशावास्योपनिषद्

शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिन संहिता के अन्तिम चालीसवें अध्याय का नाम ईशावास्योपनिषद् है। उपनिषदसाहित्य की गणना में इस उपनिषद का नाम प्रथम है। अन्य उपनिषदों से ईशावास्य

उपनिषद् में एक प्रधान अन्तर यह है कि यह उपनिषद् वैदिक संहिता का भाग है जबकि अन्य सभी उपनिषदें ब्राह्मणग्रन्थों के भाग हैं। अठारह मन्त्रों से समन्वित यह उपनिषद् कलेवर की दृष्टि से लघु है किन्तु ब्रह्मविद्या के प्रतिपादन में इसने गागर में सागर की उक्ति को चरितार्थ किया है। इस उपनिषद् के नामकरण का आधार इसके प्रथम मन्त्र का प्रारम्भिक पद ईशावास्यम् है। यह उपनिषद् अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनों सिद्धियों की क्रमशः प्रबल संस्तुति करती है। निःश्रेयस् अभ्युदय का शृंगार है तो अभ्युदय का पाथेय निःश्रेयस् है। दोनों का समन्वित रूप जीवनयात्रा के लिये आवश्यक है। यही ईशावास्योपनिषद् का सन्देश है।

2.2 केनोपनिषद्

सामवेद की जैमिनीय शाखा के ब्राह्मणग्रन्थ के नवम अध्याय को केनोपनिषद् कहते हैं। इसका दूसरा नाम ब्राह्मणोपनिषद् भी है। इस उपनिषद् के 'केन' नामकरण का आधार इसके पहले मन्त्र के पहले 'केन' पद को माना जाता है। केनोपनिषद् भी ईशावास्योपनिषद् की भाँति कलेवर से लघु उपनिषद् है। सामवेदीय जैमिनीय ब्राह्मण के नवम अध्याय, जिसे केनोपनिषद् कहा गया है, से पूर्व प्रथम आठ अध्यायों में उपनिषद्कार ने अन्तःकरण के निर्मलीकरण के लिये कर्म और उपासना पर विशेष बल दिया है और उसके बाद नवम अध्याय में ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन किया है। परिशुद्ध अन्तःकरण ही ब्रह्मविद्या के रहस्य को समझ सकता है। ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति का प्रथम सोपान अन्तःकरण शुद्धि है।

प्रथम खण्ड में ब्रह्म को चक्षुरादि इन्द्रियों से अगम्य-अगोचर बतलाया है–

यन्मनसा न मनुते...यच्चक्षुषा न पश्यति... यच्छ्रोत्रेण न शृणोति... यत्प्राणेन न प्राणिति...तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।

केनोपनिषद् 1/5-8

द्वितीय खण्ड में भी अवाङ्मनसगोचर निर्गुण ब्रह्म का ही प्रतिपादन हुआ है–

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।

केनोपनिषद् 2/3 पूर्वार्ध्द

तृतीय एवं चतुर्थ खण्ड में उमा-हैमवती के आख्यान के माध्यम से 'अक्षर' ब्रह्म का ही वर्णन किया गया है–

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमा हैमवतीं ताँ होवाच किमेतद्यक्षरमिति

केनोपनिषद् 3/12

इस प्रकार केनोपनिषद् में एकमात्र ब्रह्म की सर्वशक्तिमत्ता वर्णित है।

2.3 कठोपनिषद्

कृष्णयजुर्वेद की कठशाखा के अंश को कठोपनिषद् कहते हैं। इसमें दो अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में तीन-तीन वल्लियाँ हैं। कठोपनिषद् के प्रथम अध्याय में इकहत्तर तथा द्वितीय अध्याय में अड़तालीस मन्त्र हैं। इसका यमराज-नचिकेतोपाख्यान प्रसिद्ध है। नचिकेता जिज्ञासु शिष्य का प्रतिनिधि है और यम सद्गुरु स्थानीय है। ब्राह्मण अतिथि नचिकेता द्वारा यमराज को प्रार्थित तीन वरों का इस उपनिषद् ग्रन्थ में बड़ी मार्मिकता के साथ प्रतिपादन हुआ है। नचिकेता ने प्रथम वर से पिता के सुमनस्त्व (शान्तमन) का वरण किया–

शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्युर्गौतमो माभि मृत्यो।

त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्प्रतीत एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ।। कठोपनिषद् 1/1/10

नचिकेता ने द्वितीय वर से लोक-कल्याणार्थ अग्निविद्या का वरण किया –

स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि त्वं श्रद्दधानाय मह्यम् ।

स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद्द्वितीयेन वृणे वरेण।। कठोपनिषद् 1/1/13

नचिकेता ने तृतीय वर से आत्मविद्या का वरण किया–

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत्।

योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ।। कठोपनिषद् 1/1/29

प्रथम अध्याय की द्वितीय वल्ली से उपनिषद् की समाप्ति तक अर्थात् द्वितीय अध्याय की तृतीय वल्ली तक यम देव ने नचिकेता को रोचक ढंग से साङ्गोपाङ्ग आत्मतत्त्व का उपदेश किया। इस गुह्य विद्या का प्रारम्भ प्रेय और श्रेय द्विविध मार्गों के मूल्यांकन के साथ हुआ –

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषँ सिनीतः ।

तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ।। कठोपनिषद् 1/-2/1

प्रेयमार्ग अविद्यामूलक होने से सांसारिक बन्धन का कारण है। श्रेयमार्ग विद्यामूलक होने से तत्त्वज्ञानी को सांसारिक आवागमन से मुक्ति दिलाता है।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत। कठोपनिषद् 1/3/14 पूर्वार्द्ध

इस वाणी के द्वारा उपनिषद्कार ने आत्मज्ञान के साधक को जागरूक किया है।

2.4 प्रश्नोपनिषद्

अथर्ववेदीय पिप्पलाद संहिता के ब्राह्मणग्रन्थ के एक भाग का नाम प्रश्नोपनिषद् है। ज्ञातव्य है कि पिप्पलाद संहिता का यह ब्राह्मणग्रन्थ लुप्तप्राय हो गया है। पिप्पलाद नामक ऋषि इस उपनिषद् के वक्ता हैं और श्रोता के रूप में छह ऋषिपत्र प्रश्नकर्ता हैं। इसमें प्रश्नकर्त्ताओं का अदभत संगम

है। ब्रह्मविषयिणी जिज्ञासा से ये एकत्रित हुए हैं। अतः प्रश्नोत्तर पर आधारित होने के कारण इसका नाम प्रश्नोपनिषद् पड़ा। इस उपनिषद् का समित्पाणि छह ऋषिपुत्रों के आचार्य पिप्पलाद के समीप उपस्थित होने से प्रारम्भ होता है। वचन है–

सुकेशा च भारद्वाजः शैब्यश्च सत्यकामः सौर्यायणी च गार्ग्यः कौशल्यश्चाश्वलायनो भार्गवो वैदर्भि कबन्धी कात्यायनस्ते हैते ब्रह्मपरा .... पिप्पलादमुपसन्नाः ।

पिप्पलाद ऋषि ने इसमें भरद्वाज के पुत्र सुकेशा, शिवि के पुत्र सत्यकाम, गर्ग के पुत्र सौर्यायणी, अश्वला के पुत्र कौशल्य, विदर्भवासी भार्गव तथा कत्यायन के पुत्र कबन्धी इन छह ऋषिपुत्रों के प्रश्नों का समाधान किया है। छह प्रश्नकर्त्ताओं के आधार पर यह उपनिषद् छह प्रश्न खण्डों में विभक्त है।

1. कात्यायन के पुत्र कबन्धी का प्रश्न 'सृष्टि' से सम्बन्धित रहा कि यह बहुविध प्रजा कैसे हुई? उत्तर में प्रजापति की प्रजाविषयिणी कामना बतलाई गई –

अथ कबन्धी ... पप्रच्छ–भगवन्कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्त?

तस्मै स होवाच-प्रजाकामो वै प्रजापतिः। प्रश्नोपनिषद् 1/3-4

2. भार्गव वैदर्भि का प्रश्न 'देवता' से सम्बन्धित रहा कि कितने देव प्रजा को धारण करते हैं? उत्तर में पिप्पलाद ने आकाशादि देवों का प्रतिपादन करते हुए प्राणदेव को वरिष्ठ बतलाया –

अथ भार्गवो....पप्रच्छ-भगवन्कत्येव देवाः प्रजां विधारन्ते?

तस्मै स होवाच-आकाशो ह .... तान् वरिष्ठःप्राणः। प्रश्नोपनिषद् 2/1-3

3. कौशल्य आश्वलायन का प्रश्न 'प्राणोत्पत्ति' से सम्बन्धित रहा कि देवों में वरिष्ठ प्राण की उत्पत्ति कैसे होती है? उत्तर में पिप्पलाद ने आत्मा से प्राण की उत्पत्ति का रहस्य समझाया –

अथ कौशल्यश्चाश्वलायन पप्रच्छ–भगवन्कुत एष प्राणो जायते?

तस्मै स होवाच–आत्मन एष प्राणो जायते। प्रश्नोपनिषद् 3/1-3

4. सौर्यायणी गार्ग्य का प्रश्न 'जागरण-स्वप्न' आदि क्रियाओं के कर्त्ता के विषय में रहा कि भगवन् ! इस पुरुष (जीवात्मा) में सभी प्रकार की क्रियाओं को करने वाला कौन है? शरीररूप पुर में कौन जागता है? उत्तर में पिप्पलाद ने 'प्राणाग्नि' के विज्ञान को समझाया -

अथ सौर्यायणी गार्ग्यः पप्रच्छ–भगवन्नेतस्मिन्पुरुषे कानि स्वपन्ति ... जाग्रति .... कस्मिन्नु सर्वे संप्रतिष्ठिता भवन्तीति?

तस्मै स होवाच-गार्ग्य! ..... प्राणाग्नय एवैतस्मिन्पुरे जाग्रति प्रश्नोपनिषद् 4/1-3

5. शैब्य सत्यकाम का प्रश्न 'ऊँकार' के विषय में रहा कि हे भगवन् ! जीवनपथ पर ऊँकार का अभिध्यान करने से व्यक्ति कैसे लोक पर विजय प्राप्त करता है? इसके उत्तर में पिप्पलाद ने 'पर' और 'अपर' ब्रह्म को ऊँकारस्वरूप बतलाते हुए इसी शरीररूप आयतन से तत्त्वज्ञानी को उस पर विजय प्राप्त करना कहा है –

अथ शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ-स यो ह वै तद् भगवन्मनुष्येषु

प्रायणान्तमोङ्कारमभिध्यायीत। कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति?

तस्मै स होवाच- एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति। प्रश्नोपनिषद् 5/1-2

6. सुकेशा भारद्वाज का 'षोडशकला पुरुष' के विषय में प्रश्न रहा कि हे भगवन्! राजपुत्र हिरण्यनाभ कौसल्य ने मुझ से पूछा कि 'षोडशकलः पुरुषः' कौन है?

इसके उत्तर में पिप्पलाद ने इस शरीर के अन्दर ही षोडशकलासम्पन्न पुरुष का उद्भव बतलाया–

अथ सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ-भगवन्! हिरण्यनाभः कौसल्यो राजपुत्रो मामुपेत्यैतं प्रश्नमपृच्छत....षोडशकलं.....पुरुषं....नाहमिमं वेद।

तस्मै स होवाच – इहैवान्तःशरीरे सोम्य स पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडशकलाः प्रभवन्तीति। प्रश्नोपनिषद् 6/1-2

इस प्रकार प्रश्नोपनिषद् में ऋषिपुत्रों द्वारा पूछे गये सभी प्रश्न ब्रह्मतत्त्वविषयिणी जिज्ञासा से सम्बन्धित हैं। आत्मतत्त्व का उपदेश करना ही उपनिषद्कार को अभीष्ट है।

2.5 मुण्डकोपनिषद्

अथर्ववेद के शौनकशाखीय ब्राह्मण के अंशविशेष का नाम मुण्डकोपनिषद् है। सम्पूर्ण उपनिषद् तीन मुण्डकों में विभाजित है। इसके प्रत्येक मुण्डक में दो-दो खण्ड हैं। इसमें देवों में प्रथम ब्रह्मा जी के द्वारा अपने ज्येष्ठ अथर्व को ब्रह्मविद्या का उपदेश किये जाने का उल्लेख है। अथर्व से यह विद्या अथर्वण, अंगिरा, सत्यवह, अंगिरस् आदि ऋषि परम्परा से आगे बढ़ती गई।

इस उपनिषद् में परा और अपरा विद्या का स्पष्टतः विभाजन किया गया है –

द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च।

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। मुण्डकोपनिषद् 9/1/4-5

अर्थात् चार वेद तथा छह वेदाङ्ग अपरा विद्या के प्रतिपादक हैं जब कि अक्षरब्रह्म की उपलब्धि कराने वाली विद्या (उपनिषद्) परा विद्या है।

एक ही शरीररूप वृक्ष में अवस्थित जीवात्मा और परमात्मा के मूलभूत अन्तर को फल के भोक्ता और साक्षी के रूप में निरूपित किया गया है–

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥ मुण्डकोपनिषद् 3/1/1

इस उपनिषद् में बतलाया गया है कि ब्रह्मविदों में भी वही वरिष्ठ कहलाता है जो आत्मक्रीड, आत्मरति और क्रियावान् होता है –

आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः । मुण्डकोपनिषद् 3/1/4

सत्त्वशुद्धि अर्थात् सत्संकल्प पर बल देते हुए इस उपनिषद् में कहा गया है कि विशुद्धसत्त्व पुरुष जिस लोक की कामना करता है उसको वही लोक प्राप्त होता है –

यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते ,..... तं तं लोकं जयते। मुण्डकोपनिषद् 3/1/10

जिस प्रकार प्रवाहित जलधाराएं अपने नाम-रूप को छोड़कर समुद्र में विलीन हो जाती हैं, वैसे ही आत्मज्ञानी विद्वान् अपने व्यावहारिक नाम-रूप से विमुक्त होकर परपुरुष को प्राप्त करता है-

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।

तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

मुण्डकोपनिषद् 3/2/8

2.6 माण्डूक्योपनिषद्

अथर्ववेदीय माण्डूक्योपनिषद् कलेवर की दृष्टि से सबसे लघु उपनिषद् है। इसमें कुल बारह मंत्र हैं। उपनिषद् का सारतत्त्व यही है कि साधक ऊँकार को ध्यान का आलम्बन बनाकर उसकी उपासना द्वारा आत्मानुभूति कर सकता है। इसमें आत्मा को चतुष्पात् कहा गया है–

सोऽयमात्मा चतुष्पात्। माण्डूक्योपनिषद् 2

ऊँकार की प्रथम मात्रा 'अ' शुद्धचित् आत्मा का जागरित स्थानीय 'वैश्वानर' नामक प्रथम पाद है–

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकार : प्रथमा मात्रा। माण्डूक्योपनिषद् 9

स्थूलभुग्वैश्वानर : प्रथमः पादः । माण्डूक्योपनिषद् 3

ऊँकार की द्वितीय मात्रा 'उ' शुद्धचित् आत्मा का स्वप्नस्थानीय 'तैजस' नामक द्वितीय पाद है–

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रा। माण्डूक्योपनिषद् 10

प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः। माण्डूक्योपनिषद् 4

ऊँकार की तृतीय मात्रा 'म्' शुद्धचित् आत्मा का सुषुप्तिस्थानीय 'प्राज्ञ' नामक तृतीय पाद है–

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा। माण्डूक्योपनिषद् 11

आनन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः। माण्डूक्योपनिषद् 5

अमात्र (अमात्रिक, मात्राहीन) ऊँकार शुद्धचित् आत्मा का अव्यवहार्य, प्रपञ्चोपशम एवं शिवाद्वैत रूप चतुर्थ पाद है–

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मा।

इस प्रकार अमात्रिक ऊँकार रूप आत्मा के चतुर्थपाद होने की चर्चा इस उपनिषद् में नवीन है।

2.7 तैत्तिरीयोपनिषद्

कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय संहिता के ब्राह्मणग्रन्थ के अन्तिम भाग को 'तैत्तिरीय-आरण्यक' कहते हैं। इस आरण्यक में कुल दश प्रपाठक हैं। इन दश प्रपाठकों में से सात, आठ तथा नौ इन तीन प्रपाठकों को ही 'तैत्तिरीय-उपनिषद्' के नाम से कहा गया है। प्रतिपाद्य विषय के प्रतिपादन की प्रधानता के आधार पर ये तीन प्रपाठक शिक्षावल्ली, ब्रह्मानन्दवल्ली तथा भृगुवल्ली के नाम से अभिहित हैं।

1. प्रथम शिक्षावल्ली बारह अनुवाकों में विभक्त है। इस वल्ली में वेद-मन्त्रों के उच्चारण के नियम वर्णित हैं तथा शिक्षा-समाप्ति के पश्चात् 'समावर्तन' के समय गुरु द्वारा स्नातकों को दी गईं बहुमूल्य शिक्षाएँ वर्णित हैं। इन शिक्षाओं के अनुपालन से समुन्नत मनुष्य अपने को मनुष्यता के समीप पाता है। आजकल के दीक्षान्त समारोह के अवसर पर भी शिक्षण संस्थाओं के कुलपति इन शिक्षाओं के पालन का संकल्प कराते हैं। तैत्तिरीयोपनिषद् की ये समस्त शिक्षाएँ शिक्षावली (शीक्षाध्याय) के एकादश अनुवाक में उल्लिखित हैं –

सत्यं वद । धर्मं चर स्वाध्यायान्मा प्रमदः।.... मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव.... श्रद्धया देयम् । अश्रद्धया देयम् । श्रिया देयम् । ह्रिया देयम् । भिया देयम् । संविदा देयम् । ... एष आदेशः । एष उपदेशः ।... एतदनुशासनम् । एवमुपासितव्यम्। तैत्तिरीयोपनिषद् 1/11

इस प्रथमवल्ली में ऊँकारविज्ञान के माहात्म्य के साथ-साथ समाजप्रधान धार्मिक क्रियाकलापों का भी वर्णन हुआ है।

2. द्वितीय ब्रह्मवल्ली (ब्रह्मवल्ल्यध्याय) नौ अनुवाकों में विभक्त है। ज्ञातव्य है कि इस वल्ली को ब्रह्मानन्दवल्ली भी कहते हैं। इस वल्ली में 'पञ्चकोश' का प्रकरण विशेषरूप से महत्त्वपूर्ण है। पञ्चकोशों को पञ्चतत्त्वों और पञ्चप्राणों के समन्वय से बनी हुई ऐसी अदृश्य सत्ता कह सकते हैं, जो शरीर के आकार-प्रकार की तो होती है, पर उसमें स्थूल का अंश बहुत स्वल्प एवं सूक्ष्मता की मात्रा अत्यधिक रहती है। ये स्तर के अनुरूप क्रमशः उच्चता को प्राप्त होते हैं। वचन है–

स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः–तैत्तिरीयोपनिषद् 2/1

एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामति।

एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रामति।

एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रामति।

एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रामति।

एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति। तदप्येष श्लोको भवति । तैत्तिरीयोपनिषद् 2/3

इस प्रकार अन्नरसमय पुरुष के अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय इन पांच कोशों का निरूपण प्रस्तुत करते हुए अन्ततः आनन्दमय कोश में आनन्दस्वरूपात्मा ब्रह्म का निवास बताकर, उसे जान लेने वाले पुरुष को अभय की प्राप्ति की बात कही गई है।

3. तृतीय भृगुवल्ली (भृगुवल्याध्याय) में दश अनुवाक हैं। इस तृतीय वल्ली में वरुणदेवता ने अपने पुत्र भृगु को ब्रह्मविषयक उपदेश किया है। अतः इस वल्ली का नाम भृगुवल्ली पड़ा और उसमें ब्रह्मविद्या को भार्गवी-वारुणी-विद्या के नाम से निरूपित किया गया है–

सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता। स य एवं वेद प्रतितिष्ठति ।

तैत्तिरीयोपनिषद् 3/6

2.8 ऐतरेयोपनिषद्

ऋग्वेदीय ऐतरेय आरण्यक के एक अंशविशेष को ऐतरेयोपनिषद् कहते हैं। ऐतरेय आरण्यक पाँच भागों में विभक्त है। इसके द्वितीय आरण्यक के चतुर्थ से षष्ठपर्यन्त अध्यायों को ही 'ऐतरेयोपनिषद्' कहते हैं। तीन अध्यायों में विभक्त यह ऐतरेयोपनिषद् कुल पांच खण्डों में समायोजित है। इसके तीन खण्ड प्रथम अध्याय (द्वितीय आरण्यक के चतुर्थ अध्याय) के अन्तर्गत आते हैं जब कि अवशिष्ट चतुर्थ और पञ्चम एक-एक खण्ड को द्वितीय और तृतीय अध्याय के अन्तर्गत रखा गया है। कलेवर में लघु ऐतरेयोपनिषद् ब्रह्मविद्या प्रधान है।

इस उपनिषद् का प्रथम अध्याय यदि सृष्टि का वर्णन करता है तो द्वितीय अध्याय पुरुष के त्रिजन्म की मीमांसा प्रस्तुत करता है। अन्तिम अध्याय आत्मतत्त्व के रहस्यमय निरूपण से मण्डित है। ऐतरेयोपनिषद् के प्रथम अध्याय का समाहार करते समय उपनिषद्कार ने इन्द्र शब्द की बहुत सुन्दर एवं सर्वथा नवीन व्याख्या प्रस्तुत की है जो अन्यत्र नहीं प्राप्त होती है।

तस्मादिदन्द्रो नामेदन्द्रो ह वै नाम तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवाः परोक्षप्रिया इव हि देवाः। ऐतरेयोपनिषद् 1/3/14

उक्त कथन का अभिप्राय यह है– **'इदम् अदर्शम् अहो'** इसे मैंने देख लिया। अर्थात् जिसका ज्ञान प्राप्त करने के लिये समस्त देवतागण भटकते रहे उसे मैंने देख लिया। अहो! यह कितने सुखद आश्चर्य की बात है। ऋषिमुख से निःसृत **इदम् अदर्शम् अहो** ही इदन्द्र हुआ और उसी का संक्षिप्त रूप इन्द्र बनकर प्रचलित हुआ जो बाद में राजा के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। इस इदन्द्र शब्द के पहले दकार का लोप करके परोक्षबुद्धि से इन्द्र कहते हैं। कथन का तात्पर्य यह है कि यहाँ इदम् शब्द पूरा और अदर्शम् में से द् र् अ इन तीन वर्णो को लेकर इदन्द्र शब्द की सिद्धि की गई है कि **इदम् अदर्शम्** अर्थात् इसको मैंने प्रत्यक्ष देखा। इस अर्थ में साक्षात् ज्ञान का बोधक इदन्द्र शब्द बनाया गया, यह तो प्रत्यक्ष माना गया। परन्तु एक दकार का लोप कर देने से 'इन्द्र' शब्दान्तर

हो गया। इस प्रकार प्रत्यक्षार्थबोधक इदन्द्र की अपेक्षा इन्द्र परोक्ष हो गया। इदन्द्र शब्द के प्रत्यक्ष वाच्यार्थ को ही परोक्षार्थप्रेमी इन्द्र कहते हैं।

लोकों की सृष्टि के पश्चात् परमात्मा ने इन लोकों की शासन व्यवस्था के लिये लोकपालों की रचना करने का विचार किया एवं जल से ही एक पुरुष की रचना करके उसे सम्पूर्ण अवयवों से मुक्त किया। परमात्मा की संकल्पशक्तिमात्र से ही उस विराट् पुरुष के इन्द्रिय, इन्द्रियगोलक एवं इन्द्रियाधिष्ठाता देव उत्पन्न हो गये। इन इन्द्रियाधिष्ठाता देवताओं को परमात्मा ने भूख-प्यास से संयुक्त कर दिया। इन देवताओं ने अपनी क्षुधा-पिपासा के शमनहेतु आयतन की याचना की, जहाँ स्थित होकर वह क्षुधा-पिपासा के दुःख से मुक्ति पा सके। ऐतरेयोपनिषद् का वचन

ता एता देवताः सृष्टा अस्मिन् महत्यर्णवे प्रापतंस्तमशनापिपासाभ्यान्ववार्जत् ता एतमब्रुवन्नायतनं नः प्रजानीहि यस्मिन् प्रतिष्ठिता अन्नमदामेति। ऐतरेयोपनिषद् 1/2/1

देवताओं की याचना पर सर्वप्रथम परमात्मा ने उनके लिये एक गाय का शरीर प्रस्तुत किया किन्तु देवताओं ने उसे अस्वीकार कर दिया। इसी प्रकार ब्रह्म द्वारा प्रस्तुत अन्य सभी शरीरों को अस्वीकार करने के पश्चात् देवताओं ने मानव शरीर को स्वीकार किया। इस प्रकार ऐतरेय उपनिषद् में मानव शरीर की महत्ता एवं श्रेष्ठता को स्वीकार किया गया है। वचन है–

ताभ्यो गामानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति .... ताभ्यः पुरुषमानयत्ता अब्रुवन् सुकृतं बतेति पुरुषो वाव सुकृतम्। ऐतरेयोपनिषद् 1/2/2

सम्पूर्ण सृष्टि की रचना हो जाने के पश्चात् परब्रह्म परमपुरुष परमात्मा ने विचार किया कि मुझे भी इस सृष्टि में प्रवेश करना चाहिए, क्योंकि मेरे विना यह सृष्टि अपूर्ण है अथवा मेरे विना भी यह सृष्टि पूर्ण हो गई तो मेरा अस्तित्वबोध कहाँ रहा? अतः उस परमात्मा ने पुरुष की मूर्द्धसीमा का भेदन किया और उस विदीर्ण मार्ग से पुरुष शरीर में प्रविष्ट हो गया। इसीलिये उस मार्ग का नाम विदृतिमार्ग पड़ा। वचन है–

स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत। सैषा विदृतिर्नाम द्वास्तदेतन्नान्दनम्। ऐतरेयोपनिषद् 1/3/11

यह परिकल्पना सर्वथा नवीन एवं एकमात्र ऐतरेयोपनिषद् में ही प्राप्त होती है। इसलिये मृत्यु आसन्न व्यक्ति का प्राण विदृतिमार्ग से ही निकलना शुभ एवं श्रेष्ठ समझा जाता है, क्योंकि जिस मार्ग से जीवात्मा ने पुरुषशरीर में प्रवेश किया था उसी मार्ग से उसका निर्गमन भी उचित है। इस नवीन कल्पना की उद्भाविका एकमात्र एतरेयोपनिषद् ही है।

पुरुष की त्रिजन्मकल्पना के अन्तर्गत तीन बातें मुख्यतया आती हैं– रेतस् रूप में माता की कुक्षि में प्रविष्टि, शिशुरूप में उद्भव एवं पिता का कालकवलित होकर पुनः जन्म धारण करना। वस्तुतः पुत्र और पिता में सर्वत्र अभेद माना गया है। इसीलिये पिता का मृत्यु पश्चात् शरीरग्रहण करना

भी पुत्र के तृतीय जन्म के रूप में परिगणित किया गया है। कौषीतकी उपनिषद् इस बात का सर्वसाक्ष्य प्रमाण है कि पिता एवं पुत्र में कोई भी अन्तर नहीं होता है। कौषीतकी उपनिषद् में कहा है–

आत्मा वै पुत्रनामसि। कौषीतकी उपनिषद् 2/11

कौषीतकी उपनिषद् की यही अवधारणा ऐतरेयोपनिषद् में पुरुष की त्रिजन्मकल्पना द्वारा परिपुष्ट हुई है।

तृतीय अध्याय में उपनिषद्कार ने बड़े ही गूढ़ शब्दों का प्रयोग किया है। 'प्रज्ञान' का वर्णन करते हुए उन्होंने पर्यायों की लड़ियाँ पिरो दी हैं। प्रज्ञान की संज्ञा निर्धारित करते समय उन्होंने हृदय, मन, संज्ञान, आज्ञान, विज्ञान, प्रज्ञान, मेधा, दृष्टि, धृति, मति, मनीषा, जूति, स्मृति, संकल्प, क्रतु, असु, काम एवं वश शब्दों का प्रयोग किया है–

संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः संकल्पः ऋतुरसुः कामो वश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति। ऐतरेयोपनिषद् 5/2

यह प्रज्ञान ही सर्वत्र व्याप्त है, जो समस्त देवगण, पञ्चमहाभूत तथा उद्भिज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज सब प्रकार के जीव-जन्तुओं के रूप में प्रकट है। प्रज्ञान ही सृष्टि के रूप में प्रकीर्ण है। यह सम्पूर्ण सृष्टि प्रज्ञान में ही स्थित है। प्रज्ञान और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है। अतः कहा जा सकता है। कि ऐतरेयोपनिषद् में ब्रह्म को ही प्रज्ञान संज्ञा से पुकारा जाता है। जो व्यक्ति इस तथ्य की अनुभूति कर लेता है वह इस लोक से उत्क्रमण करके उस परमधाम में पहुँचकर समस्त कामनाओं को विजित करके अमर हो जाता है।

इस अन्तिम तृतीय अध्याय में मुख्यतया मोक्ष के विषय में ही विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। ऐतरेय में जो सृष्टि की कल्पना अंकुरित हुई है वही परिकल्पना आगे चलकर पुराणों में, महाभारत में सृष्टि का आधार समझी गई। यद्यपि इस भावना का बीजावतरण हमें सर्वप्रथम ऋग्वेद के नारदीय सूक्त में प्राप्त होता है, तथापि उसका अंकुरण सर्वप्रथम ऐतरेय उपनिषद् में ही प्राप्त होता है। नारदीय सूक्त का वचन है–

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमापरो यत

ना मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न राऱ्या अह्न आसीत प्रकेतः

तम आसीत्तमसा गूलदमग्रे प्रक्रेतं सलिलं सर्व या इदम्

आनीदवात् स्वधया तदेकं तस्माद्धान्न परः किंचनास।। नारदीयसूक्त 1/2

इसी प्रकार विराट् पुरुष की कल्पना भी ऋग्वेद के पुरुषसूक्त से साम्य रखती है–

सहस्त्रशीर्षः पुरुषः सहस्त्राक्षाः सहस्त्रपात्।

स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद् दशांगुलम्।। ऋग्वेद संहिता 10/90/1

यही इस उपनिषद् का सार-संक्षेप है जो लघुकाय होने पर भी विस्तृत अर्थों की व्याख्या करने में सक्षम है। ऐतरेयोपनिषद् के मौलिक सिद्धान्त को यदि एक ही वाक्य में प्रस्तुत किया जाय तो कहा जा सकता है कि विश्व ही ईश्वर है और ईश्वर हमारी आत्मा है। यह उपनिषद् विषयवस्तु की दृष्टि से छान्दोग्य, बृहदारण्यक, कठ तथा कौषतकीय उपनिषदों से अधिक साम्य रखती है।

2.9 छान्दोग्योपनिषद्

सामवेद की कौथुमशाखा के तीन ब्राह्मणग्रन्थों– तांड्य, षड्विंश तथा मन्त्र– में कुल बत्तीस अध्याय हैं। कौथुमसंहिता के ब्राह्मणग्रन्थ में कुल चालीस अध्याय हैं। इनमें से कौथुम [illegible]ण के दश अध्यायों को 'छान्दोग्य ब्राह्मण' भी कहते हैं। इसी 'छान्दोग्य ब्राह्मण' के अन्तिम आठ अध्याय 'छान्दोग्योपनिषद्' के नाम से प्रसिद्ध हैं। कुछ विद्वान् इस उपनिषद् को सामवेदीय तलवकार ब्राह्मण के अन्तर्गत मानते हैं। अभी तक की व्याख्यायित आठ उपनिषदों की तुलना में यह उपनिषद् बृहदाकार है। छान्दोग्योपनिषद् के ये आठ अध्याय खण्डों में विभक्त हैं। इसके प्रथम अध्याय में तेरह, द्वितीय अध्याय में चौबीस, तृतीय अध्याय में उन्नीस, चतुर्थ अध्याय में छब्बीस तथा अष्टम अध्याय में पन्द्रह खण्ड हैं। एक वाक्य में कहा जा सकता है कि छान्दोग्य के प्रारम्भिक पांच अध्यायों का विषय 'परमात्मा की प्रतीकोपासना' और अन्तिम तीन अध्यायों का विषय 'तत्त्वज्ञान' है।

प्रथम अध्याय का प्रारम्भ, सामवेद के ऊँकारगान की प्रारम्भिक शैली से हुआ है। ऊँकार को उद्गीथ कहा जाता है अर्थात् उद्गीथ ऊँकार है। छान्दोग्य का पहला मन्त्र ऊँकार की उद्गीथ रूप में की जाने वाली उपासना से सम्बन्धित है–

ऊँ इत्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत। छान्दोग्योपनिषद् 1/1

यह उद्गीथाख्य ऊँकार रसराज होने से अष्टम स्थान में है एवं परमात्मा का प्रतीक होने से उपनिषद्कार ने उसे तद्वत् उपास्य बतलाया है–

स एष रसानां रसतमः परमः परार्ध्योऽष्टमो यदुद्गीथः। छान्दोग्योपनिषद् 1/1/3

इस प्रकार छान्दोग्योपनिषद् के प्रथम अध्याय में रोचक आख्यानों के द्वारा ईश्वर के वाचक प्रणव अर्थात् ऊँकार के उपास्यभूत रहस्यों को उद्घाटित किया है

य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथः। छान्दोग्योपनिषद् 1/5/1

प्राणोपासना की उत्कृष्टता, प्राणदृष्टि से ऊँकारोपासना का फल, प्रणव और उद्गीथ का अभेद, ऊँकार, उद्गीथ और आदित्य का अभेद, प्राण की बृहस्पति, आयास्य तथा आंगिरस संज्ञा होने से हेतु आदि विभिन्न अवान्तरविषय; उद्गीथ दृष्टि से ऊँकार की उपासना के स्पष्टीकरण के लिये, प्रथम अध्याय में विवेचित हैं।

द्वितीय अध्याय में तत्त्वज्ञान में उपयोगी होने के कारण भिन्न-भिन्न उपासनाओं का वर्णन

किया गया है। यद्यपि मोक्ष का साक्षात् साधन ज्ञान ही है, तथापि ज्ञानप्राप्ति का अधिकार प्रदान करने वाले होने के कारण कर्म और उपासना भी उसके साधनरूप से अपरिहार्यतः स्वीकार्य हैं। 'सामोपासना' के उपदेश से द्वितीय अध्याय का प्रारम्भ होता है–

ऊँ समस्तस्य खलु साम्न उपासनं साधु यत्खलु साधु तत्सामेत्याचक्षते यदसाधु तदसामेति। छान्दोग्योपनिषद् 2/1/1

तृतीय अध्याय का मुख्य विषय सूर्योपासना है। यह सूर्यदेव सम्पूर्ण प्राणियों के कर्मों का फलस्वरूप है। अतः समस्त जीव प्रत्यक्षतः इसके आश्रय से जीवन धारण करते हैं। अतः सूर्योपासना का महत्त्व सर्वविदित है। आदित्य सम्पूर्ण यज्ञों का फलस्वरूप है। अतः सूर्य (आदित्य) को देवताओं का मधु कहा गया है–

ऊँ असौ वा आदित्यो देवमधुः। छान्दोग्योपनिषद् 3/1/1

गायत्री द्वारा ब्रह्म की उपासना भी इसी तृतीय अध्याय का विषय है–

गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किं च वाग्वै गायत्री वाग्वा इदं सर्वं भूतं गायति च त्रायते च। छान्दोग्योपनिषद् 3/12/1

चतुर्थ अध्याय में संवर्गविद्या, गार्हपत्याग्निविद्या, अन्वाहार्यपचनाग्निविद्या , आह्वनीयाग्निविद्या तथा यज्ञोपासना का विवेचन हुआ है। अनेक उपाख्यानों के माध्यम से विषय का सरलीकरण हुआ है। राजा जानश्रुति-रैक्व उपाख्यान, वृषभ-सत्यकाम उपाख्यान, उपकोसल-अग्नि उपाख्यान इसके प्रसिद्ध हैं। इसके तीसरे खण्ड में ज्ञानी रैक्व ने राजर्षि जानश्रुति को संवर्ग विद्या का उपदेश किया। अधिदेवस्थानीय वायु तथा अध्यात्मस्थानीय प्राण में 'संवर्ग' गुण है। शंकराचार्य ने संवर्ग का अर्थ बतलाते हुए कहा है–

संवर्गः संवर्जनात् संग्रहणात् संग्रसनाद्वा संवर्गः। .... संवर्जनाख्यो गुणो ध्येयो वायुवत्। ... प्राणो मुख्यो वाव संवर्गः। छान्दोग्य, शांकरभाष्य 4/3/1-3

अर्थात् संवर्जन, संग्रहण अथवा संग्रसन को संवर्ग कहते हैं। संवर्ग शब्द का अर्थ है लीन होना। अधिदेवपक्ष में वायु को संवर्ग इसलिये कहा जाता है कि अग्नि, सूर्य आदि देवताओं को वायु अपने स्वरूप में मिला देता है। अध्यात्मपक्ष में शयनकाल में वागादि देवताओं को प्राण अपने में समाहित (लीन) कर लेता है। उपनिषद् का वचन है–

तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ वायुरेव देवेषु प्राणः प्राणेषु। छान्दोग्योपनिषद् 4/3/4

'प्राण' ब्रह्म है, 'क' ब्रह्म है 'ख' ब्रह्म है–इसकी दार्शनिक व्याख्या में उपकोसल के प्रति ब्रह्मविद्या का उपदेश किया गया। वचन है–

प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति। छान्दोग्योपनिषद् 4/10/4

गार्हपत्याग्निविद्या में पृथ्वी, अग्नि, अन्न तथा आदित्य का ब्रह्मोपासना के रूप में वर्णन

किया गया है। इसमें ब्रह्मचारी के प्रति गार्हपत्याग्नि ने शिक्षा दी है। अतः उन्हीं के नाम से इस शिक्षा को 'गार्हपत्याग्नि विद्या' कहते हैं–

अथ हैनं गार्हपत्योऽनुशशास–पृथिव्यग्निरन्नमादित्य इति।

छान्दोग्योपनिषद् 4/11/1

अन्वाहार्यपचनाग्निविद्या प्रकरण में अन्वाहार्यपचन (दक्षिणाग्नि) ने ब्रह्मचारी को जल, दिशा, नक्षत्र तथा चन्द्रमा की शिक्षा देते हुए बतलाया कि चन्द्रमा में जो पुरुष दिखलाई पड़ता है वह मैं (ब्रह्म) हूँ–

अथ हैनमन्वाहार्यपचनोऽनुशशास–आपो दिशो नक्षत्राणि चन्द्रमा इति।

छान्दोग्योपनिषद् 4/12/1

आह्वनीयाग्निविद्या प्रकरण में आहवनीयाग्नि ने ब्रह्मचारी को प्राण, आकाश, द्युलोक तथा विद्युत् का प्रतिपादन करते हुए विद्युत् में ब्रह्म की उद्‌भावना की है–

अथ हैनमाहवनीयोऽनुशशास– प्राण आकाशो द्यौर्विद्युदिति। एष विद्युति पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति। छान्दोग्योपनिषद् 4/13/1

यज्ञोपासना प्रकरण में 'वायु' का विज्ञान बतलाते हुए मन और वाक् को उसके दो मार्ग बतलांये हैं। वचन है-

एष ह वै यज्ञो योऽयं पवत एष ह यन्निदं सर्वं पुनाति। ..... तस्य मनश्च वाक्च वर्तनी। छान्दोग्योपनिषद् 4/16/1

पञ्चम अध्याय का प्रारम्भ 'प्राणोपासना' से होता है। वागादि की अपेक्षा प्राण ही ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ है–

प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च। छान्दोग्योपनिषद् 5/1/1

यह प्राण श्रेष्ठ भी है और ज्येष्ठ भी है, क्योंकि पुरुष के गर्भस्थ होने पर वागादि की अपेक्षा प्राण वृत्ति पहले लब्धस्वरूप होती है, जिससे गर्भ बढ़ता है। वागादि की वृत्तियों का लाभ तो चक्षुरादि गोलक और अवयवों के निष्पन्न हो जाने के अनन्तर होता है इसलिये आयु की दृष्टि से प्राण ज्येष्ठ है और वाक्-चक्षु-श्रोत्र-मन-प्राण की परीक्षा कर प्राण का श्रेष्ठत्व भी सबको स्वीकार्य हुआ। वचन है–

अथ ह प्राणः ... त्वं नः श्रेष्ठोऽसि मोत्क्रमीरिति। छान्दोग्योपनिषद् 5/1/2

वाग्वाव वसिष्ठः। छान्दोग्योपनिषद् 5/1/2

उक्त वचन के द्वारा वाक् को 'वसिष्ठ' कहा है क्योंकि वाग्मी (श्रेष्ठ वक्ता) लोग ही बसते अर्थात दूसरों का पराभव करते हैं और अधिक धनवान् भी होते हैं। अतः वाक ही 'वसिष्ठ' है।

चक्षुर्वाव प्रतिष्ठा। छान्दोग्योपनिषद् 5/1/3

उक्त वचन के द्वारा चक्षु को 'प्रतिष्ठा' कहा है, क्योंकि चक्षु से देखकर ही पुरुष सम और विषम प्रदेश में स्थित होता है। लोक और परलोक में प्रतिष्ठित होता है। अतः चक्षु ही 'प्रतिष्ठा' है।

श्रोत्रं वाव सम्पद्। छान्दोग्योपनिषद् 5/1/4

उक्त वचन के द्वारा श्रोत्र को 'सम्पद्' कहा है, क्योंकि श्रोत्र से वेद और उसके अर्थ का विशेषज्ञान ग्रहण किया जाता है, फिर कार्य किया जाता है और तदनन्तर भोगों की प्राप्ति होती है। इस प्रकार भोगों की प्राप्ति का कारण होने से श्रोत्र ही 'सम्पद्' है।

मनो ह वा आयतनम्। छान्दोग्योपनिषद् 5/1/5

उक्त वचन के द्वारा मन को 'आयतन' कहा है, क्योंकि इन्द्रियों द्वारा लाये हुए एवं भोक्ता के ज्ञानरूप विषयों का मन ही आयतन अर्थात् आश्रय है। इसलिये मन ही 'आयतन' है।

इस प्रकार उपनिषद्कार ने प्राण के विषय में श्रेष्ठता का विवाद रोचक आख्यान के द्वारा सुलझाया। छान्दोग्य उपनिषद् के पञ्चम अध्याय का द्वितीय खण्ड भी प्राणविद्या के प्रतिपादन में पर्यवसित हुआ है। इसके आगे के खण्डों में लोकरूपा अग्निविद्या, पर्जन्यरूपा अग्निविद्या, पृथिवीरूपा अग्निविद्या, पुरुषरूपा अग्निविद्या तथा स्त्रीरूपा अग्निविद्या का विवेचन हुआ है। अश्वपति-औपमन्यव-संवाद, अश्वपति-सत्ययज्ञ-संवाद, अश्वपति-इन्द्रद्युम्न-संवाद, अश्वपति-जनक-संवाद, अश्वपति-बुडिल-संवाद, अश्वपति-उद्दालक संवाद के विचारमंच में **को न आत्मा कि ब्रह्मेति** (5/11/1) आत्ममीमांसाविषयक प्रस्ताव रखा गया। अर्थात् ब्रह्मज्ञानविषयिणी जिज्ञासा हुई और उसके समाधान की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई।

षष्ठ अध्याय 'ब्रह्मतत्त्व' की मीमांसा की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें महर्षि उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को ब्रह्मतत्त्व का ज्ञान दिया है कि वटबीज में निहित वटवृक्ष की अपार सम्भावनाओं की भाँति सूक्ष्मतम ब्रह्म में स्थूलतम विश्व के आविर्भाव की शक्ति विद्यमान है और **'तत्त्वमसि'** वाक्यांश से जीव का ब्रह्म से ऐक्य स्थापित किया। ब्रह्मात्मक सर्वोच्च सत्ता के विषय में लौकिक दृष्टान्तों द्वारा उद्दालक ने पुत्र श्वेतकेतु को समझाया–

वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्। छान्दोग्योपनिषद् 6/1/4

यह दृष्टान्त सर्वोच्च सत्ता 'ब्रह्म' के प्रतिपादन में पर्यवसित है। एक के ज्ञान से सबका ज्ञान हो जाता है। इस तथ्य को मधुमक्खियों के दृष्टान्त, नदी के दृष्टान्त, वृक्ष के दृष्टान्त, न्यग्रोधफल के दृष्टान्त, अन्यत्र से लाये हुए पुरुष के दृष्टान्त, मुमूर्ष पुरुष के दृष्टान्त तथा चोर के तप्त परशुग्रहण के दृष्टान्त द्वारा उपनिषद्कार ने स्पष्टता प्रदान की है। सृष्टिक्रम में सद्रूप ब्रह्म की असम्पृक्तता स्पष्ट करते हुए कहा है कि जिस प्रकार सम्पूर्ण लोक का चक्षुरूप सूर्य चक्षुसम्बन्धी बाह्य दोषों से लिप्त नहीं होता है, उसी प्रकार समस्त प्राणियों का एक ही अन्तरात्मा 'ब्रह्म' लौकिक दुःखों से संलिप्त नहीं

होता अपितु उनसे बाहर रहता है। जिस प्रकार दर्पण और जल आदि में छायामात्र से अनुप्रविष्ट हुए मनुष्य और सूर्य आदि दर्पण और जल आदि के दोषों से लिप्त नहीं होते हैं, इसी प्रकार सद्रूप सर्वोच्च 'ब्रह्म' भी निर्लिप्त रहता है।

षष्ठ अध्याय के पञ्चम खण्ड में अन्नादि के त्रिविध परिणाम का विज्ञान वर्णित है। भुक्त अन्न का स्थूल अंश मल हो जाता है, मध्यम अंश रसादिक्रम से परिणत होकर मांस हो जाता है और अन्न का अणुतम अंश (अणिष्ठ धातु) ऊपर की ओर हृदय में पहुँचकर 'हिता' नाम की सूक्ष्म नाड़ी में प्रवेश कर वाक् आदि इन्द्रियसमूह की स्थिति उत्पन्न करता हुआ मन हो जाता है। वचन है–

योऽणिष्ठस्तन्मनः। छान्दोग्योपनिषद् 6/5/1

इसी क्रम में मन अन्नमय है, प्राण जलमय है और वाक् तेजोमयी है– का विषयज्ञान मिलता है। मन में अन्न के द्वारा उपचित तथा सोलह भागों में विभक्त हुई उस शक्ति से संयुक्त देह और इन्द्रियों का संघातरूप जीवविशिष्ट पुरुष षोडशकल अर्थात् सोलह कलाओं वाला कहा जाता है। जिस शक्ति के रहने पर पुरुष द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, बोद्धा, कर्ता, विज्ञाता तथा समस्त क्रियाओं में समर्थ होता है और जिसके क्षीण होने पर उसकी शक्ति का ह्रास हो जाता है। षोडशकलाविशिष्ट पुरुष का प्रमाणवचन है–

षोडशकलः सोम्य पुरुषः। छान्दोग्योपनिषद् 6/7/1

अष्टम खण्ड में सुषुप्तिकाल में जीव की स्थिति का विवेचन हुआ है। वचन है–

यत्रेतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते स्वंह्यपीतो भवति। छान्दोग्योपनिषद् 6/8/1

अभिप्राय यह है कि जिसमें वासनारूप विषयों के दर्शन की वृत्ति (क्रिया) विद्यमान रहती है, उसे 'स्वप्न' कहते हैं और उसके मध्य को स्वप्नान्त अर्थात् 'सुषुप्त' कहते हैं। **'स्वमपीतो भवति'** इस श्रुतिवाक्य के अनुसार 'सुषुप्त' में ही पुरुष अपने स्वरूप को प्राप्त होता है। ब्रह्मवेत्तालोग सुषुप्तावस्था को छोड़कर और किसी दशा में जीव की स्वरूपप्राप्ति स्वीकार नहीं करते हैं। जिस प्रकार दर्पण के हटा लेने पर दर्पण में स्थित पुरुष का प्रतिबिम्ब स्वयं पुरुष को ही प्राप्त हो जाता है। उसी प्रकार सुषुप्तावस्था में मन आदि की निवृत्ति हो जाने पर चैतन्य के प्रतिबिम्बरूप से जीवात्मभाव से नामरूप की अभिव्यक्ति करने के लिये मन में प्रविष्ट हुआ वह परदेवता मनसंज्ञक जीवरूपता को त्यागकर स्वयं अपने स्वरूप को ही प्राप्त हो जाता है। इससे स्वप्नान्त शब्द का वाच्य 'सुषुप्त' सिद्ध होता है।

सप्तम अध्याय में नारद के प्रति सनत्कुमार के उपदेश में नाम की अपेक्षा वाक्, वाक् की अपेक्षा मन, मन की अपेक्षा संकल्प, संकल्प की अपेक्षा चित्त, चित्त की अपेक्षा ध्यान, ध्यान की अपेक्षा विज्ञान, विज्ञान की अपेक्षा बल, बल की अपेक्षा अन्न, अन्न की अपेक्षा जल, जल की अपेक्षा

तेज, तेज की अपेक्षा आकाश, आकाश की अपेक्षा स्मरण, स्मरण की अपेक्षा आशा, आशा की अपेक्षा प्राण का उत्तरोत्तर प्राबल्य एवं महत्त्व प्रतिपादित है। यह बलाबल निर्णय प्रथम खण्ड से पञ्चदशखण्डपर्यन्त विवेचित है। वस्तुतस्तु नामादि तत्त्वों का क्रमशः निरूपण कर उनके द्वारा भी शाखाचन्द्रदर्शन के समान 'भूमा' संज्ञक निरतिशय तत्त्व का प्रतिपादन करना उपनिषद्कार का उद्देश्य है। इस सापेक्ष उत्कृष्टता के क्रम में नामादि की अपेक्षा 'भूमा' संज्ञक तत्त्व उत्कृष्ट है। इससे श्रेयश्प्राप्ति में आत्मविद्या का निरतिशय साधनत्व सूचित होता है। फलाभिसन्धि यह है कि सत्य, विज्ञान, मति, श्रद्धा, निष्ठा, कृति, सुख की अपेक्षा 'भूमा' ही जानने योग्य है। वचन है–

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति। छान्दोग्योपनिषद् 7/23/1

अष्टम अध्याय में दहर पुण्डरीक में ब्रह्म की उपासना का विवेचन हुआ है। यद्यपि आत्मतत्त्व सत्, एकमात्र सम्यक् ज्ञान का विषय और निर्गुण है तो भी मन्द बुद्धि पुरुषों को उसकी सगुणता ही इष्ट है। अतः उसके सत्यसंकल्पादि गुणों से युक्त होने का प्रथमतः प्रतिपादन किया जा रहा है। इसलिये उसका अनुभव होने के लिये हृदयकमलरूप देश का उपदेश करना आवश्यक है–

अथ यदिदस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म... तदन्वेष्टव्यम्। छान्दोग्योपनिषद् 8/1/1

ब्रह्मचर्य आदि साधनों से सम्पन्न जो साधक 'दहर-ब्रह्म' अर्थात् हृदय में ध्यान के द्वारा आत्मा का साक्षात्कार करता है उसको यथेष्ठ संकल्प सिद्धि प्राप्त होती है। श्रुति है–

यं यमन्तमभिकामो भवति यं कामं कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन सम्पन्नो महीयते। छान्दोग्योपनिषद् 8/2/10

इसी क्रम में प्रजापति ने इन्द्र और विरोचन के प्रति आत्मज्ञान का उपदेश किया। उन्होंने बतलाया कि वत्स! यह जो पुरुष नेत्रों में दिखलाई पड़ता है वही आत्मा है, वही अमृत है, वही अभय है और वही ब्रह्म है–

प्रजापतिरुवाच– य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति। छान्दोग्योपनिषद् 8/7/4

फलश्रुति है कि किसी भी कल्याणकारिणी विद्या को ग्रहण करने के लिये मनुष्य को कितने त्याग, तप, सेवा, सत्य और विनय आदि की आवश्यकता है, यह बात कई आख्यायिकाओं से प्रदर्शित की गई है। इन्द्र ने आत्मविद्या की प्राप्ति के लिये एक सौ एक वर्ष तक ब्रह्मचर्यव्रत का पालन किया। सत्यकाम आचार्य हारिद्रुमत के पास विद्याध्ययन के लिये पहुँचा। आचार्य ने उसका उपनयन कर उसे चार सौ गौएँ देकर आज्ञा दी कि इन्हें अरण्य में ले जाओ। जब तक इनकी संख्या बढ़कर एक सहस्र न हो जाय तब तक न लौटना। बालक सत्यकाम ने गुरु जी के इस आदेश का प्राणप्रण

से पालन किया और केवल गोचारण द्वारा ही उसे गुरुकृपा से ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो गया। जिस समय वह गौओं को लेकर गुरुजी के पास आया उस समय उसके तेज को देखकर उन्हें भी कहना पड़ा–

ब्रह्मविदिव वै सोम्य भाति को नु त्वानुशशास। छान्दोग्योपनिषद् 4/9/2

इसी प्रकार सत्यकाम के शिष्य उपकोसल को भी नियमानुसार अग्निहोत्र करते-करते ही गुरुकृपा से ब्रह्मविद्या की प्राप्ति हो गई। इन दृष्टान्तों का आशय यह है कि जिस पुरुष का जिस समय जो कर्त्तव्य है उस समय सर्वथा उसी का यथावत् रूप से पालन करना चाहिए।

वेदान्तसूत्रों में जिन श्रुतियों पर विचार किया गया है उनमें सबसे अधिक इसी उपनिषद् की श्रुतियाँ हैं। इसका ज्ञानकाण्ड तो जिज्ञासुओं की अक्षयनिधि है। निष्काम कर्म और उपासना मल और विक्षेप की निवृत्ति करके ज्ञान द्वारा मुक्ति देते हैं। औपनिषद-दर्शन ही सम्यग्दर्शन है।

2.10 बृहदारण्यकोपनिषद्

बृहदारण्यकोपनिषद् यजुर्वेद की काण्वी शाखा के वाजसनेयिब्राह्मण के अन्तर्गत है। शंकराचार्य ने अपने भाष्य में इसे 'वाजसनेयिब्राह्मणोपनिषद्' के नाम से पुकारा है। कलेवर की दृष्टि से यह समस्त उपनिषदों की अपेक्षा बृहत् है तथा अरण्य में अध्ययन किये जाने के कारण इसे 'आरण्यक' कहते हैं। इस प्रकार 'बृहत्' और 'आरण्यक' होने के कारण इसका नाम 'बृहदारण्यक' हुआ है। यह बात शंकराचार्य ने ग्रन्थ के आरम्भ में ही कही है। किन्तु शंकराचार्य ने इसकी केवल आकारनिष्ठ बृहत्ता का ही उल्लेख किया है, जब कि वार्त्तिककार श्री सुरेश्वराचार्य ने तो अर्थतः भी इसकी बृहत्ता स्वीकार की है–

बृहत्त्वद्ग्रन्थतोऽर्थाच्च बृहदारण्यकं मतम्। सं०वा० 9

बृहदारण्यकोपनिषद् में कुल छह अध्याय हैं और ये अध्याय ब्राह्मणों में विभक्त हैं। प्रथम अध्याय में छह ब्राह्मण, द्वितीय अध्याय में भी छह ब्राह्मण, तृतीय अध्याय में नौ ब्राह्मण, चतुर्थ अध्याय में पांच ब्राह्मण, पञ्चम अध्याय में पन्द्रह ब्राह्मण तथा षष्ठ अध्याय में पांच ब्राह्मण हैं। इस प्रकार कुल छियालीस ब्राह्मण हैं।

प्रथम अध्याय का प्रारम्भ 'अश्वमेधविज्ञान' से होता है। क्योंकि अश्वमेधयज्ञ में अश्व की प्रधानता रहती है। अतः 'अश्वविषयक दृष्टि यहाँ रेखांकित है। 'अश्व' नाम से अंकित यज्ञ का देवता प्रजापति है। उपनिषद्कार ने उपनिषद् का प्रारम्भ करते हुए कहा है–

ऊँ उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः। बृहदारण्यकोपनिषद् 1/1/1

'अश्वमेधविद्या' के अन्तर्गत अश्व के अवयवों में कालादि-दृष्टि, अश्वमेध सम्बन्धी अग्नि की उत्पत्ति, अश्वमेधोपासना तथा उसका फल वर्णित है। इसके आगे प्रजापति के पुत्र 'देव' और 'असुरों' के विग्रह का वर्णन है। इन्द्रियों की दैवी और आसुरी वृत्तियाँ देव और असुररूप से

उपवर्णित हैं। देव और असुर दोनों प्रजापति के पुत्र हैं। श्रुति है–

द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च। बृहदारण्यकोपनिषद् 1/3/1

पुण्य और पापसंस्कारों के कारण इन दोनों प्रकार की वृत्तियों का उत्कर्ष और अपकर्ष होता रहता है। इस क्रम में 'प्राण' के यज्ञीयपक्षों पर प्रकाश डाला गया है।

द्वितीय अध्याय के प्रारम्भ में दृप्त बालाकि गार्ग्य और अजातशत्रु के संवाद में ब्रह्मज्ञान की चर्चा प्राप्त है। द्वितीय अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण का याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-संवाद प्रसिद्ध है। श्रेयःकामिनी मैत्रेयी ने अपने पति याज्ञवल्क्य से कहा कि हे भगवन्! जिससे मैं अमर नहीं हो सकती उसे लेकर मैं क्या करूँगी? मुझे तो वही बात बतलाईये जिससे मैं अमर हो सकूँ–

सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति। बृहदारण्यकोपनिषद् 2/4/3

मैत्रेयी की उत्कट जिज्ञासा देखकर भगवान् याज्ञवल्क्य ने उसे ब्रह्मज्ञान का उपदेश किया और प्रेयःकामिनी कात्यायनी ने सम्पन्न पुरुषों जैसा भोगमय जीवन व्यतीत किया। याज्ञवल्क्य के उपदेश का सार यही है कि ब्रह्म और आत्मा में अभेद है, आत्मज्ञान से ही सबका ज्ञान होता है, आत्मा से ही सम्पूर्ण भूतों की उत्पत्ति और प्रलय होता है तथा जिसकी दृष्टि में सब कुछ आत्मा हो जाता है उसके लिये कर्त्ता, क्रिया और करण का सर्वथा अभाव हो जाता है–

मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्। बृहदारण्यकोपनिषद् 2/4/5

इसके आगे (द्वितीय अध्याय के षष्ठ ब्राह्मण में) 'मधुविद्या' के दृष्टात से ब्रह्मज्ञान का उपदेश वर्णित है। जिस प्रकार मधु अनेक प्रकार के पुष्पों का सार अर्थात् कार्य है तथा नानाविध पुष्प उसके कारण कहे जाते हैं। इनमें उपकार्य-उपकारकभाव सम्बन्ध है। मधु-उपकार्य है और पुष्प उपकारक है। यहाँ यह दिखाया गया है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा, विद्युत् और दिशा सभी पदार्थ चारों भूतों के कार्य हैं और भूत उनके कारण हैं। इस प्रकार उपकार्य-उपकारक-भाव से संयुक्त ये सभी एक दूसरे के मधु हैं–

इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै पृथिव्यै सर्वाणि भूतानि मधु। बृहदारण्यकोपनिषद् 2/5/1

यह तो व्यावहारिक दृष्टि हुई, किन्तु परमार्थतः उनका अधिष्ठानस्थानीय वह ज्योतिर्मय अमृतमय पुरुष ही है। इस अधिष्ठानदृष्टि से सम्पूर्ण प्रपञ्च की ब्रह्मरूपता का प्रतिपादन किया गया है और यह बतलाया गया है कि आत्मतत्त्व ही अपनी मायाशक्ति से अनेकों आकार धारण करके क्रीडा करता है। वचन है–

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते। बृहदारण्यकोपनिषद् 2/5/19

तृतीय अध्याय याज्ञवल्कीय काण्ड कहा जाता है। इसके आरम्भ में राजा जनक के बहुल दक्षिणायुक्त यज्ञ का प्रसङ्ग है। उनके यहाँ पाञ्चाल देश के सभी विद्वान् ब्राह्मण एकत्रित हुए थे। सभा में उन्होंने घोषणा करी कि जो सबसे अधिक ब्रह्मज्ञानी हो, वह गौशाला में सुवर्णाभरण से सुशोभित दश सहस्र गौओं को प्राप्त कर सकता है। एकत्रित ब्राह्मणों में से ऋषि याज्ञवल्क्य ने राजर्षि जनक की सभा में अनेक ब्रह्मज्ञानियों को परास्त किया जब कि याज्ञवल्क्य के प्रश्नों का उत्तर उपस्थित ब्राह्मणों में से कोई नहीं दे सका। याज्ञवल्क्य के ब्रह्मज्ञान को प्रणाम किया जाता है, जिन्होंने **ब्रह्मज्ञानियों की** सभा में ऐसा सम्बोधन किया–

स होवाच नमो वयं ब्रह्मिष्ठाय कुर्मो गोकामा एव वयं स्म इति। बृहदारण्यकोपानिषद् 3/1/2

याज्ञवल्क्य-अश्वल-संवाद में मुख्य रूप से 'मृत्यु' से मुक्ति पाने के विभिन्न पक्षों पर विचार किया है। इसके द्वितीय अध्याय में याज्ञवल्क्य-आर्तनाभ-संवाद, तृतीय ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य-भुज्यु-संवाद, चतुर्थ ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य-उषस्त-संवाद, पञ्चम ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य-कहोल-संवाद, षष्ठ ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य-गार्गी-संवाद, सप्तम ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य-आरुणि-संवाद, अष्टम अध्याय में पुनः याज्ञवल्क्य-गार्गी-संवाद, नवम अध्याय में याज्ञवल्क्य-शाकल्य संवाद प्रस्तुत है। इनमें ग्रहविज्ञान, पारिक्षित-चर्चा, आत्मविज्ञान, संन्यास-चर्चा, जलादितत्त्वविज्ञान, सूत्रात्माविज्ञान, अक्षरविज्ञान, देवताओं की स्वरूपचर्चा आदि प्रमुख विषय हैं।

चतुर्थ अध्याय जनक-याज्ञवल्क्य-संवाद से प्रारम्भ होता है। याज्ञवल्क्य ने ब्रह्मरूप वाक्, प्राण, चक्षु आदि के आयतन एवं प्रतिष्ठा के साथ-साथ भिन्न-भिन्न प्रकार से की जाने वाली उनकी उपासना पद्धति के विषय में राजा जनक को बतलाया और स्पष्ट किया कि इनकी उपासना से व्यक्ति कैसे देवलोक को प्राप्त करता है। संवाद का विषयसार है–

वाग् वै ब्रह्मेति ... वागेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा प्रज्ञेत्येनदुपासीत ... वाग् वै सम्राट् परमं ब्रह्म .... देवो भूत्वा देवानप्येति य एनं विद्वानेतदुपासते। बृहदारण्यकोपनिषद् 4/1/2

इसी क्रम में वाक्-ब्रह्म के पश्चात् प्राण-ब्रह्म, चक्षुर्ब्रह्म, श्रोत्रब्रह्म, मनोब्रह्म, हृदयब्रह्म की उपासना का फलसहित वर्णन है।

इसके द्वितीय ब्राह्मण में जनक को अधिकारी समझकर याज्ञवल्क्य ने विराट् का वर्णन किया है और उस सर्वात्मा का प्रत्यगात्मा में उपसंहार करके परब्रह्म का उपदेश किया है–

स एष नेति नेत्यात्मागृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यति। बृहदारण्यकोपनिषद् 4/2/4

इसी अध्याय के तीसरे और चौथे ब्राह्मणों में भी जनक और याज्ञवल्क्य का ही संवाद है।

यहाँ विविध प्रकार से यही निर्णय हुआ है कि आत्मा ही परमज्योति है, वह स्वयंप्रकाश है। आदित्यज्योति, चन्द्रज्योति, अग्निज्योति, वाग्ज्योति इन बाह्य ज्योतियों के समान स्वयं किसी अन्य से प्रकाशित (भासित) न होने वाली यह आत्मज्योति है। यही नहीं, वह आदित्यादि ज्योतियों से विलक्षण एवं अभौतिक भी है। यही कारण है कि वह आत्मज्योति आदित्यादि के समान चक्षु आदि से ग्राह्य नहीं है–

आत्मैवास्य ज्योतिर्भवतीत्यात्मनैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति बृहदारण्यकोपनिषद् 4/3/6

यही स्वयंप्रकाशस्वरूप आत्मा स्वप्नावस्था में सम्पूर्ण दृश्य की सृष्टि कर लेता है। सम्पूर्ण विषयों का भोक्ता होने पर भी सर्वथा असंग है। सुषुप्तावस्ता में वह सारे प्रपंच का उपसंहार करके अपने आनन्दमय स्वरूप में स्थित रहता है। आत्मतत्त्व बुद्ध्यादि से सर्वथा पृथक् है, किन्तु उसका आभासपक्ष यह है कि बुद्धि तो स्वच्छ है और आत्मा की समीपवर्तिनी है। इसलिये वह आत्मचैतन्य की प्रतिच्छाया से युक्त हो जाती है। इसी से विवेकियों को भी पहले उसी में आत्माभिमानबुद्धि होती है। पुनः बुद्धि का समीपवर्ती होने से बुद्धि के सम्पर्क से मन में चैतन्यावभासता आती है। पुनः मन का समीपवर्ती होने से मन के सम्पर्क से इन्द्रियों में चैतन्यावभासता आती है। अन्त में इन्द्रियों का समीपवर्ती होने से इन्द्रियों के सम्पर्क से शरीर में चैतन्य की प्रतीति होती है। इस प्रकार परम्परा से आत्मा सम्पूर्ण देहेन्द्रियसंघात को चैतन्यस्वरूप प्रकाश से प्रकाशित कर देता है। इसी से सब लोगों की देहेन्द्रियसंघात और उसकी वृत्तियों में अपने-अपने विवेक के अनुसार अनियत आत्माभिमानबुद्धि होती है। राजा जनक के प्रश्न का उत्तर है–

कतम आत्मेति। ..... ध्यायतीव लेलायतीव सः। बृहदारण्यनिकोपनिषद् 4/3/7

तृतीय ब्राह्मण में जागरित, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में आत्मा की व्यावहारिक प्रतीति के विज्ञान को विस्तारपूर्वक समझाया गया है। वचन है–

सलिल एको द्रष्टाद्वैतो भवत्येषः। बृहदारण्यकोपनिषद् 4/3/32

इस प्रकार स्वप्नावस्था में वही सम्पूर्ण दृश्य को खड़ा करता है। सम्पूर्ण विषयों का भोक्ता होने पर भी वह सर्वथा असंग है। सुषुप्तावस्था में वह सारे प्रपञ्च का उपसंहार करके अपने आनन्दमय स्वरूप में स्थित रहता है। वही द्रष्टा की दृष्टि, घ्राता की घ्राति, रसयिता की रसनाशक्ति, वक्ता की उक्ति, श्रोता की श्रुति, मन्ता की मति और विज्ञाता की विज्ञाति है। इस प्रकार सबका स्वरूप होने से उसका कभी अभाव नहीं होता है।

विषयसार यह है कि एक अलुप्तशक्तिस्वरूप द्रष्टा ही सर्वमय है। वही निरतिशय आनन्दस्वरूप है और उसी के लेशमात्र आनन्द से अन्य सब विषय आनन्दस्वरूप जान पड़ते हैं। इसके आगे चतुर्थ अध्याय के अन्त तक याज्ञवल्क्य ने बड़ी ओजपूर्ण भाषा में इसी आत्मतत्त्व का वर्णन किया है–

स एष नेति नेत्यात्मागृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितः। बृहदारण्यकोपनिषद् 4/4/22

पञ्चम अध्याय से खिलकाण्ड प्रारम्भ होता है। इसमें कई प्रकार की उपासनाओं का वर्णन है। आरम्भ में ही एक बड़ा रोचक आख्यान है। प्रसंग इस प्रकार है– प्रजापति के तीन पुत्र रहे– देव, असुर और मनुष्य। अपने पिता के यहाँ रहकर ये ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते रहे। एक बार इन्होंने पिता प्रजापति से प्रार्थना की कि हे पिताश्री! आप हमें उपदेश करें। प्रजापति ने बारी-बारी से तीनों को एक अक्षर 'द' का संक्षिप्त उपदेश किया। प्रजापति के इन तीन पुत्रों देव, असुर तथा मनुष्य ने अपनी-अपनी प्रकृति (स्वभाव) के अनुकूल 'द' उपदेश का रहस्य समझा।

1. भोगप्रधान देवता समझते हैं कि पिता ने हमें 'दमन' (इन्द्रियसंयम) करने का उपदेश किया है।

2. क्रूरप्रकृति असुर समझते हैं कि प्रजापति ने हमें 'दया' करने का आदेश किया है।

3. अर्थलोलुप मनुष्य मानते हैं कि पिता ने हमें 'दान' करने की आज्ञा दी है।

इस प्रकार अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार उपयुक्त उपदेश पाकर वे कृतकृत्य हो जाते हैं। प्रजापति के अनुशासन का मेघगर्जनरूप दैवी वाक् आज भी द, द, द का इस प्रकार अनुवाद करती है अर्थात् दमन करो, दान करो, दया करो अर्थात् इन तीनों को सीखो–

तदेतदेवैषा दैवी वागनुवदति स्तनयित्नुर्द द द इति दम्यत, दत्त दयध्वमिति तदेतत् त्रयं शिक्षेद् दमं दानं दयामिति। बृहदारण्यकोपनिषद् 5/2/3

इसी क्रम में हृदय-ब्रह्म की उपासना, सत्य-ब्रह्म की उपासना, हृदयस्थ मनोमय पुरुष की उपासना, विद्युद् ब्रह्म की उपासना, धेनुरूप से वाक् की उपासना, उक्थदृष्टि से प्राणोपासना, यजुर्दृष्टि से प्राणोपासना, सामदृष्टि से प्राणोपासना, क्षत्रदृष्टि से प्राणोपासना, गायत्र्युपासना आदि प्रमुख विषय विवेचित हुए हैं। इसी प्रसंग में नवम ब्राह्मण में शरीरस्थ वैश्वानर अग्नि की भी चर्चा हुई है। पुरुष के भीतर स्थित यह जो वैश्वानर अग्नि है, जिससे कि यह अन्न, जो भक्षण किया जाता है, पकाया जाता है। उसी का यह घोष होता है, जिसे पुरुष कानों को मूँदकर सुनता है। जिस समय पुरुष (मनुष्य) उत्क्रमण करने वाला होता है, उस समय इस घोष को नहीं सुन पाता है। श्रुति प्रमाण है–

य यदोत्क्रमिष्यन् भवति नैनं घोषं शृणोति। बृहदारण्यकोपनिषद् 5/9/1

षष्ठ अध्याय में सर्वप्रथम इन्द्रियों के विवाद द्वारा प्राण की उत्कृष्टता दिखाई गई है–

प्राणो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च। बृहदारण्यकोपनिषद् 6/1/1

इसके द्वितीय ब्राह्मण में श्वेतकेतु और प्रवाहण का प्रसंग है। इस प्रसंग में प्रवाहण द्वारा उपदिष्ट 'पञ्चाग्निविद्या का विवेचन हुआ है। द्युलोकाग्नि, पर्जन्याग्नि, इहलोकाग्नि, पुरुषाग्नि और योषाग्नि ये पांच अग्नियाँ हैं।

इसके पश्चात् तीसरे और चौथे ब्राह्मणों में क्रमशः श्रीमन्थ और पुत्रमन्थ कर्मों का वर्णन है। ये दोनों कर्म परस्पर सम्बद्ध हैं। इनका प्रधान प्रयोजन सत्सन्तति की प्राप्ति है।

पंचम ब्राह्मण में खिलकाण्ड की आचार्य-परम्परा है। वस्तुतः उपनिषद् ही तत्त्वज्ञान के आदिस्रोत हैं। उनसे निकलकर ही विविध वाङ्मय के रूप में विकसित हुई ज्ञान-गंगा जीवों के संसार-ताप का शमन करती है।

2.11 कौषीक्युपनिषद्

ऋग्वेद के कौषीतकि ब्राह्मण का एक भाग आरण्यक कहा जाता है, जिसमें पन्द्रह अध्याय है। इसी आरण्यक के तीसरे और छठे अध्याय को 'कौषीतकि उपनिषद्' कहा जाता है। इसका दूसरा नाम 'कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्' भी है। क्योंकि इसके उपदेवता कौषीतकि नामक ऋषि हैं। इस उपनिषद् में कुल चार अध्याय ही हैं। अध्यायों का विषयानुसार अवान्तर विभाजन नहीं हुआ है। इस उपनिषद् का प्रारम्भ वाक्, मन आदि की प्रतिष्ठा के वर्णन के साथ हुआ है–

ॐ वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितम्। कौषीतक्युपनिषद् 1/1

द्वितीय अध्याय में 'प्राण-ब्रह्म' का विवेचन हुआ है–

प्राणो ब्रह्मेति ह स्माह कौषीतकिः। कौषीतक्युपनिषद् 2/1

तृतीय अध्याय में इन्द्र-प्रतर्दन उपाख्यान है। इन्द्र ने प्रतर्दन ऋषि से कहा कि आप मनुष्य के लिये जिसे हिततम समझते हैं, उसी का उपदेश करें–

त्वमेव मे वृणीष्व यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यस इति तं हेन्द्र उवाच। कौषीतक्युपनिषद् 3/1

चतुर्थ अध्याय में 'हिता' नाम की नाडी का मुख्य रूप से विवेचन हुआ है–

हिता नाम हृदयस्य नाड्यो हृदयात् पुरीततमभिप्रतन्वन्ति। कौषीतक्युपनिषद् 4/19

यह उपनिषद्ग्रन्थ सबसे प्राचीन है।

2.12 श्वेताश्वतरोपनिषद्

कृष्णयजुर्वेद के श्वेताश्वतर ब्राह्मण का एक भाग 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' कहलाता है। इस उपनिषद् में कुल छह अध्याय हैं। इस उपनिषद् में साधन-साध्य-साधक तथा उसके प्रतिपाद्य विषय के महत्त्व का बहुत स्पष्ट एवं मार्मिक भाषा में निरूपण है। इसमें प्रसंगानुसार सांख्य-योग, सगुण-निर्गुण, द्वैत-अद्वैत आदि कई प्रकार के सिद्धान्तों का उल्लेख है।

प्रथम अध्याय का प्रारम्भ जगत् के कारण की मीमांसा से होता है। ब्रह्मवादियों की सभा में इस विषय पर विचार किया जाता है कि जगत् का कारण क्या है? हम कहाँ से उत्पन्न हुए? किसके

द्वारा हम जीवन धारण करते हैं? कौन हमारा आधार है और किसकी प्रेरणा से हम सुख-दुःख का अनुभव करते हैं? वस्तुतः इस प्रकार की जिज्ञासा ही भारतीय दर्शनशास्त्र का बीज है।

ऋषियों ने जगत् की मीमांसा करते हुए काल-स्वभावादि लोकप्रसिद्ध कारणों पर विचार किया, किन्तु उनमें से कोई भी उनकी जिज्ञासा शान्त करने में सफल न हुआ। उन्हें सभी अपूर्ण और अशाश्वत दिखलाई पड़े–

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या।

संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः।।

श्वेताश्वतरोपनिषद् 1/2

अन्त में ध्यानयोग के द्वारा उन्होंने यह अनुभव किया कि भगवान् की स्वरूपभूता माया ही जगत् का कारण है। अर्थात् जड़-चेतन दोनों से परे इनका अधिष्ठाता और प्रेरक जो एक देव है वही अपनी मायाशक्ति से जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण है और उसका साक्षात्कार होने पर ही जीव माया के चक्र से मुक्त हो जाता है। उसे कहीं अन्यत्र ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं है। वह सर्वदा अपने अन्तःकरण में ही स्थित है–

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।

यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः।। श्वेताश्वतरोपनिषद् 1/3

द्वितीय अध्याय में; जिस भगवान् की स्वरूपभूता माया को जगत् के कारणरूप में प्रथम अध्याय में निर्णीत किया है, प्रणवचिन्तनपूर्वक ध्यानाभ्यास को ही उसके साक्षात्कार का साधन बताया गया है। इसमें ध्यान की विधि, ध्यान के योग्य स्थान, योग की प्रथम प्रवृत्ति और उसके फल का बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है। प्राणायाम का क्रम और उसकी महत्ता बतलाई गई है–

प्राणान्प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।

दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्तः।।

श्वेताश्वतरोपनिषद् 2/1

तृतीय अध्याय में साधनभूत ध्यानयोग के साध्य का प्रतिपादन हुआ है। यहाँ उस एक ही तत्त्व का पहले सगुण-साकाररूप से, पुनः अन्तर्यामी– विराट्रूप से तथा शुद्धरूप से वर्णन हुआ है। ब्रह्म का निर्विशेषरूप है–

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।

स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्।। श्वेताश्वतरोपनिषद् 3/19

आत्मज्ञान होने पर साधक शोकरहित हो जाता है–

तमक्रतुं पश्यति वीतशोकः। श्वेताश्वतरोपनिषद् 3/20 उत्तरार्द्ध

चतुर्थ अध्याय में तत्त्वबोध की प्राप्ति और माया से मुक्त होने के लिये उस देव की स्तुति की गई है तथा अनेक प्रकार से उसके स्वरूप और महत्त्व का वर्णन किया गया है। प्रभु से सद्बुद्धि की प्रार्थना की गई है–

स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु। श्वेताश्वतरोपनिषद् 4/1 उत्तरार्द्ध

इसमें जीव और ईश्वर की विलक्षणता को अत्यन्त सरल पद्धति से समझाया गया है। जीव फल का भोक्ता है तो ईश्वर साक्षिमात्र। दोनों शरीररूप वृक्ष में आरूढ़ हैं–

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।। श्वेताश्वतरोपनिषद 4/6

उपनिषद्कार के अनुसार प्रकृति माया है और उसका अधिष्ठाता सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म उस मायारूप उपाधि के कारण मायावी है और वह मायाकल्पित जगत् में व्याप्त है–

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।

तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्।। श्वेताश्वतरोपनिषद् 4/10

पञ्चम अध्याय में क्षर-अक्षर और दोनों के प्रेरक परमात्मा के स्वरूप का स्पष्टीकरण हुआ है। यहाँ क्षर का भोग्यत्व, अक्षर जीव का भोक्तृत्व और परमात्मा का नियन्त्रित्व बतलाया गया है तथा यह भी प्रदर्शित किया है कि जीव अपने संकल्प के अनुसार विभिन्न योनियों को प्राप्त होता है और परमात्मा का ज्ञान होने पर सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाता है–

अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्त्रष्टारमनेकरूपम्।

विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः।। श्वेताश्वतरोपनिषद् 5/13

इस अध्याय के प्रारम्भ में क्षर-अक्षर का स्वरूप बतलाने वाली श्रुति है–

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे।

क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः।।

श्वेताश्वतरोपनिषद् 5/1

षष्ठ अध्याय में भी परमात्मा के स्वरूप एवं महत्त्व का ही प्रतिपादन करते हुए अन्त में उसी के ज्ञान से सारे दुःखों की निवृत्ति बतलाई है और यह कहा है कि उस देव को जाने विना दुःखों का अन्त होना उसी प्रकार सम्भव नहीं है जिस प्रकार व्यापक और निरवयव आकाश को चमड़े के समान लपेटना। श्रुति है–

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।

तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति।। श्वेताश्वतरोपनिषद् 6/20

अन्त में इस विद्या के सम्प्रदाय का और उसके अधिकारी का वर्णन है। उपनिषद्कार ने शान्तचित्त को इस विद्या का अधिकारी बताया है–

वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम्।

नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः।। श्वेताश्वतरोपनिषद् 6/22

तृतीय इकाई

इकाई की रूपरेखा

3.1 उपनिषद् की प्रतिपादन शैली

3.2 उपनिषद् का समय एवं टीकाकार शंकराचार्य

3.3 सारांश

3.1 उपनिषद् की प्रतिपादन-शैली

श्रुतिपरम्परा से संरक्षित आध्यात्मिक विचारों को प्रतिपादन-शैली से स्पष्टता प्रदान करने में उपनिषद्कारों का महत्वपूर्ण स्थान है। उपनिषद्वाङ्मय में प्रतिपादित जीव, ब्रह्म, जगद् विषयक बहुआयामी विषय ही दर्शनशास्त्र के आधारबिन्दु बने। उपनिषद् वाङ्मय की विषयप्रतिपादन-शैली सरल और सुबोधगम्य है। गम्भीर विषयों को प्रश्नोत्तर-शैली, कथोपकथन-शैली, आख्यायिका-शैली एवं लौकिकदृष्टान्त-शैली का समाश्रयण कर आत्मसात् कराया गया है। ये उपनिषदें गद्य-शैली, पद्य-शैली और कहीं-कहीं उभयशैली में लिखी गई हैं। ईशोपनिषद् पद्यशैली में, केनेपनिषद् पद्य शैली में, कठोपनिषद् पद्यशैली में, प्रश्नोपनिषद् गद्य-शैली में, मुण्डकोपनिषद् पद्य-शैली में, माण्डूक्योपनिषद् गद्य-शैली में, तैत्तिरीयोपनिषद् गद्य-शैली में ऐतरेयोपनिषद् गद्य-शैली में, छान्दोग्योपनिषद्, गद्य-पद्य-शैली में, बृहदारण्यकोपनिषद् गद्य-शैली में कौषीतकि-उपनिषद् गद्य-शैली में तथा श्वेताश्वतरोपनिषद् पद्य-शैली में उपनिबद्ध है। वेद, ब्राह्मण और उपनिषद् इन तीनों के विषयों की शैली, सरणि तथा उद्देश्य का वैज्ञानिक अनुसन्धान करने से विदित होता है कि वेदों के कर्त्ता कवि, ब्राह्मणों के पुरोहित एवं उपनिषदों के रहस्यवादी सन्त पुरुष रहे।

ज्ञातव्य है कि हिन्दू दर्शन के तीन प्रस्थान ग्रन्थ हैं, जो वैदिक धर्मानुसार गन्तव्य मार्ग तथा उसके साधन के प्रतिपादक हैं। इसी प्रस्थानत्रयी में उपनिषद्, गीता तथा ब्रह्मसूत्र आते हैं। भारतीय विचारशास्त्र के लिये सर्वश्रेष्ठ उपजीव्य ग्रन्थ होने के कारण उपनिषद्वाङ्मय प्रस्थानत्रयी के अन्तर्गत प्रथम प्रस्थान के रूप में गृहीत है। द्वितीय प्रस्थान श्रीमद्भगवद्गीता है, जो समस्त उपनिषद्रूपी धेनुओं का वत्सरूपी पार्थ के लिये गोपाल कृष्ण द्वारा दोहन किया गया सुधा-सहोदर सारभूत दुग्ध है। तृतीय प्रस्थान बादरायण व्यासविरचित ब्रह्मसूत्र है। इसमें आपाततः विरोधी उपनिषद्वाक्यों का समन्वय तथा एकमात्र अभिप्राय ब्रह्म में दिखलाकर अन्य तार्किकों की युक्तियों का प्रबल खण्डन किया गया है।

उपनिषदों में बौद्ध-जैन, सांख्य-योग, मीमांसा-वेदान्त, शैवमत आदि सभी दर्शनों का सारतत्त्व निगूढ है। कठोपनिषद् बौद्धमत के अनात्मवाद की प्रतिपादिका कही जाती है तो छान्दोग्य, कठ और प्रश्न उपनिषदों में सांख्य की विवेचना भरी पडी है। श्वेताश्वतर में सांख्य की अवधारणा

मिलती है तो बृहदारण्यक और छान्दोग्य में योग के सिद्धान्त सुषुप्ति को भी मन की ही वृत्ति मानना वर्णित है। मीमांसा दर्शन के कर्म और ज्ञान के समन्वय की भावना ईशावास्योपनिषद् में लक्षित होती है। श्वेताश्वतर को शैव दर्शन का मूलाधार कहा जा सकता है। भगवद्गीता के तो अनेक श्लोक कठोपनिषद् के अनुवादमात्र प्रतीत होते हैं। वेदान्त दर्शन के सिद्धान्तों की अद्भुत विवेचना ऐतरेय उपनिषद् में उपलब्ध होती है। माध्वमत का प्रतिपादन मुण्डकोपनिषद् और श्वेताश्वतर में ही रामानुज के त्रितत्त्वात्मक ब्रह्म की सिद्धि होती है। जिस प्रकार एक पर्वतशिखर अपने विविध भागों से विभिन्न दिशाओं में प्रवाहित होने वाली नदियों को जन्म देता है उसी प्रकार उपनिषद्साहित्य दर्शन का वह चरम शिखर है जो अपने विविध अंगों से अनेक विचार प्रवाहों को जन्म देता है। अत एव सिद्ध होता है कि उपनिषद्साहित्य समस्त परवर्ती दर्शनों का मूलस्रोत है।

उपनिषदों की प्रतिपादन शैली में अध्यात्म के साथ व्यवहार का भी मञ्जुल समन्वय है। उत्तम आध्यात्मिक पथ पर आरूढ होने के लिये अनेक सद्गुणों का सद्भाव आवश्यक है। यह मनुष्य की जीवन-शैली को भी मर्यादित करता है।

1. बृहदारण्यकोपनिषद् (5/2/3) ने रोचक आख्यायिका के द्वारा दम, दान तथा दया की सुशिक्षा दी है।
2. छान्दोग्योपनिषद (3/17/4) ने तपस्या, दान, आर्जव, अहिंसा तथा सत्यवचन की सुशिक्षा दी है।
3. तैत्तिरीयोपनिषद् (1/11) ने गुरुगृह से प्रत्यावर्तन के समय स्नातक को बहुत सुन्दर शिक्षाएँ दी हैं।
4. प्रश्नोपनिषद् (6/1) में अनृतभाषण की प्रबल निन्दा की है।
5. बृहदारण्यकोपनिषद् (4/4/23) में सत्य के अनन्तर शम, दम, उपरति, तितिक्षा तथा समाधान की प्राप्ति भी उतनी ही आवश्यक है, परन्तु ज्ञानसाधन के मूल में विवेक और वैराग्य की शिक्षा दी है।
6. कौषीतकि ने मनुष्य की कर्म करने में स्वतन्त्र प्रवृत्ति के निषेध की शिक्षा दी है।
7. केनोपनिषद् में इन्द्र और अप्सरा की कथा विनम्रता की शिक्षा देती है।
8. ईशावास्योपनिषद् यावज्जीवन निष्कामकर्मसम्पादन की शिक्षा देती है।
9. छान्दोग्योपनिषद् में ज्ञानप्राप्ति के अधिकारी की शिक्षा दी गई है।

यदि वेदों पर आचार्य सायण का भाष्य प्राप्त न होता तो उनका अध्ययन जनसाधारण के लिये सर्वथा असम्भाव्य रहता। इसी प्रकार यदि विद्वानों ने उपनिषद्साहित्य पर साहित्य का सृजन न किया होता तो इनका अध्ययन भी अपूर्ण ही रहता। वेदान्तदर्शन के इतिहास में शंकराचार्य ही ऐसे प्रथम मनीषी हैं, जिन्होंने प्रस्थानत्रयी पर अद्वैत-सिद्धान्त के अनुसार अमूल्य भाष्यों की रचना

कर, अनार्ष विचारधारा को विखण्डित कर, भारतीय संस्कृति के दिवाकर को क्षितिज पर पुनः स्थापित किया।

इतना ही नहीं आचार्य शंकर ने पैंतीस प्रकरण ग्रन्थ भी लिखे। जिनमें से प्रमुख हैं– विवेकचूडामणि, उपदेशसाहस्री, अपरोक्षानुभूति, आत्मबोध, प्रबोधसुधाकर, षट्श्लोकी, सोपानपञ्चक, अद्वैतानुभूति, दशश्लोकी, प्रौढानुभूति तथा वाक्यवृत्ति।

इसके अतिरिक्त आचार्य शंकर ने लगभग 67 स्तोत्रग्रन्थों की रचना की है। जिनमें प्रमुख हैं– शिवानन्दलहरी, सौन्दर्यलहरी, त्रिपुरसुन्दरी, आनन्दलहरी, दक्षिणमूर्तिस्तोत्र, मानसपूजास्तोत्र, अन्नपूर्णाष्टक, षट्पदी, विष्णुपदादिकेशान्तस्तोत्र आदि।

इसके अतिरिक्त आचार्य शंकर को अद्वैत पञ्चरत्न, अद्वैतानुभूति, अनात्मश्रीविगर्हणप्रकरण, आत्मबोध आदि ग्रन्थों का भी रचयिता माना गया है।

आचार्य शंकर द्वारा विरचित दो तन्त्रग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं– सौन्दर्यलहरी तथा प्रपञ्चसार।

आचार्य शंकर ने अपने स्वरचित ग्रन्थों में कहीं भी अपने समय का उल्लेख नहीं किया है। फिर भी आन्तःसाक्ष्यों के आधार पर 500-800 ईस्वी तक के सुदीर्घकाल में उनका आविर्भाव माना जा सकता है। आचार्य शंकर ने अपने ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य में बौद्ध नैयायिक दिङ्नाग एवं बृहदारण्यक भाष्यवार्त्तिक में धर्मकीर्ति का नामोल्लेख किया है–

यदन्तर्ज्ञेयरूपं तद् बहिर्वदवभासत इति। ब्र0सू0शां0भा0- 2/2/28

त्रित्वेव त्वदिनाम्नावादितियद् धर्मकीर्तिना।

प्रत्यज्ञायि प्रतिज्ञेयं हीयेतासौ न संशयः॥ बृ0भा0वा0 4/3

दिङ्नाग पांचवी शताब्दी के एवं धर्मकीर्ति छठवीं शताब्दी के हैं। इसके पश्चात् आचार्य शंकर ने बौद्ध आचार्य गुणमति का उल्लेख अपने ग्रन्थ में किया है, जो सातवीं शताब्दी के थे। अतः स्वतः सिद्ध होता है कि शंकराचार्य सातवीं शताब्दी से पूर्व कथमपि नहीं हुए होंगे। इसीलिये प्रचलित मतों के आधार पर शंकराचार्य का समय 788-820 ईस्वी निर्धारित किया गया है।

औपनिषदिक दर्शन की प्रतिपादन-शैली अपने में अनेक विवेचन पद्धतियाँ समाहित किये हुए है। उपनिषद्वाङ्मय के अनुशीलन से विदित होता है कि इसमें पहेलीपद्धति, सूत्रपद्धति, व्युत्पत्तिपद्धति, कथापद्धति, दृष्टान्तपद्धति, संवादपद्धति, समन्वयपद्धति, आत्मोक्तिपद्धति, प्रयोजनपद्धति तथा परिगमनपद्धति विकासित हुई है।

3.2 उपनिषद् का समय एवं भाष्यकार शंकराचार्य

भारतीय विद्वानों का मत है कि वेद अपौरुषेय हैं। अतः उपनिषदों के वेदान्त होने से इनके

रचनाकाल का प्रश्न ही नहीं उठता, किन्तु पाश्चात्य विद्वानों ने ऐतिहासिक दृष्टि से इसे कालसीम में बांधा है।

उपनिषदों के रचनाकाल के सम्बन्ध में एक निश्चित धारणा प्रस्तुत नहीं की जा सकती है। अनेक देशी-विदेशी विद्वानों के अतिरिक्त श्री शंकर बालकृष्ण दीक्षित एवं लोकमान्य तिलक ने इस सम्बन्ध में पर्याप्त अन्वेषण किया है। लोकमान्य तिलक ने सामान्य रूप से 4500 ईसा पूर्व ऋग्वेद, 2500 ईसा पूर्व ब्राह्मणग्रन्थ तथा 1600 ईसापूर्व उपनिषदों का युग माना है। आज उपलब्ध उपनिषदों में प्राचीनतर कौन है इसकी सिद्धि अत्यन्त दुष्कर है। इतना अवश्यमेव कहा जा सकता है कि कुछ उपनिषदें बौद्धयुग से भी पूर्व की हैं। इस प्रकार छठी शताब्दी ईसा पूर्व से पहले रचे गये उपनिषदों में छान्दोग्य, बृहदारण्यक, केन, ऐतरेय, तैत्तिरीय, कौषीतकि और कठ का नाम उल्लेखनीय है। वैसे तो 14 वीं, 15वीं शताब्दी तक भी उपनिषदों की रचना होती रही।

उपनिषदों में प्राप्त होने वाले भाव वस्तुतः किसी एक दार्शनिक के नहीं हैं, दार्शनिकों के किसी एक सम्प्रदाय के भाव नहीं हैं, जिनका अन्वेषण किसी एक शिक्षा पद्धति के अनुसार किया जा सके। वस्तुतः ये विभिन्न व्यक्तियों की भावनाएँ हैं जो विभिन्न काल में विस्तार के साथ मुखरित हुईं।

मैक्डालन के मतानुसार उपनिषदों में सर्वप्राचीन उपनिषद् ईसा पूर्व 600 से अर्वाचीन नहीं बताई जा सकती है, क्योंकि उपनिषदों में सर्वप्रथम विवेचित कतिपय महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का अनुसरण बौद्ध धर्म में उपलब्ध होता है। रानाडे के अनुसार 1200 ईसा पूर्व से 600 ईसा पूर्व को औपनिषदिक काल की पूर्वसीमा और परसीमा माना जा सकता है। सर्वपल्ली डॉ0 राधाकृष्णन् के शब्दों में प्रारम्भिक उपनिषदों का निर्माणकाल 1000 ईसा पूर्व से लेकर 300 ईसा पूर्व तक माना गया है। एस0एन0 दासगुप्ता 700-600 ईसापूर्व के काल को प्राचीन उपनिषदों का काल मानते हैं। विन्टरनित्ज के शब्दों में ऐतरेय, कौषीतकि, तैत्तिरीय, बृहदारण्यक, छान्दोग्य और केन उपनिषद् युग की प्राचीनतम रचनाएँ हैं। भाषा-शैली में वे ब्राह्मण ग्रन्थों का अनुसरण करती हैं। महामहोपाध्याय डॉ0 उमेश मिश्र के मत से छठीं शताब्दी ईसा पूर्व से पहले रची गई उपनिषदों में छान्दोग्य, बृहदारण्यक, केन, ऐतरेय, तैत्तिरीय, कौषीतकि और कठ का नाम लिया जा सकता है। पं0 बलदेव उपाध्याय के अनुसार उपनिषदों को तीन श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम श्रेणी में छान्दोग्य, बृहदारण्यक, ईश, तैत्तिरीय, ऐतरेय, प्रश्न, मुण्डक और माण्डूक्य को रख सकते हैं, जो तत्-तद् वेदों के आरण्यकों के अंश होने से निःसन्देह रूप से प्राचीन हैं। श्वेताश्वतर, कौषीतकि, मैत्रायणी तथा महानारायण को तृतीय श्रेणी में रखा जा सकता है और दोनों के बीच में कठ और केन उपनिषद् को रख सकते हैं। चिन्तामणि विनायक वैद्य ने अपने 'संस्कृत साहित्य के वैदिक काल का इतिहास' नामक ग्रन्थ में उपनिषदों की प्राचीनता और अर्वाचीनता के निर्णयार्थ दो साधन उपस्थित किये हैं– प्रथम; विष्णु या शिव का परदेवता के रूप में वर्णन तथा दूसरा; प्रकृति-पुरुष-त्रिविध गुणों के साख्यसिद्धान्तों का प्रतिपादन।

उपनिषद्साहित्य सर्वसिद्धि साधक एवं सुन्दरतम है। गूढ ब्रह्मविद्या के निर्धारक होने के कारण उनमें क्लिष्टता सहज सम्भाव्य रही है। आत्मतत्त्व के निरूपण में तत्पर् उपनिषदों का वर्ण्यविषय दुरूह और रहस्यमय बन गया है। यदि भाष्यों का आलोक न प्राप्त होता तो सम्भवतः उपनिषद्साहित्य का अध्ययन एवं उपनिषद्कार के हृद्गत भाव को समझना न केवल कठिन अपितु असम्भाव्य हो जाता। इसी तथ्य की अपरिहार्यता ही वस्तुतः भाष्यसृजन के मूल में कारणरूप में सन्निहित प्रतीत होती है। सभी सर्वमान्य एवं प्रख्यात उपनिषदों पर विभिन्न आचार्यों द्वारा प्रणीत विभिन्न भाष्य प्राप्त होते हैं। आचार्य शंकराचार्य, महर्षि दयानन्द, आनन्दगिरि, रंगरामानुजाचार्य आदि अनेक भाष्यकार हैं, जिन्होंने संस्कृत साहित्य को विविध वर्णों से अभिचित्रित करने के लिये अपनी लेखिनीरूपी तूलिका का प्रयोग किया है।

आचार्य शङ्कराचार्य ने ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक तथा श्वेताश्वतरोपनिषद् पर भाष्य लिखा। भाष्यकार शंकराचार्य की अत्यन्त गम्भीर विषय प्रतिपादन-शैली से इन प्रमुख ग्यारह उपनिषदों के दार्शनिक चिन्तन एवं उनकी अन्तःसंगति लगाने में उनके काव्यग्रन्थ अत्यन्त सहायक सिद्ध हुए हैं। आचार्य शंकर उपनिषद् भाष्य के पर्याय माने जाते हैं। संस्कृतवाङ्मय में भाष्यकार आचार्य शंकर का नाम शीर्षस्थानीय है। भाष्यकार आचार्य शंकर के उपनिषद् भाष्यग्रन्थों की सहायता से ही ग्यारह प्रमुख उपनिषदों के पद-पदार्थ, भाव-भाधार्थ, संगति-उपसंगति को; चिन्तन की गम्भीरता को देखते हुए, समझा जा सकता है।

3.3 सारांश

अमूल्यनिधिपरिपूरित संस्कृतसाहित्य की वैदिक ऋचाएँ अनादिकाल से मानवमात्र के लिये मार्गदर्शक रही हैं। भारतीय संस्कृति के आधारभूत वेदों की अन्तिम शब्दराशि ह उपनिषद् की संज्ञा से अभिहित है। भारतीय विचारधारा के विकासपथ में उपनिषदों का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। **घटे सागरः समाहितः** उक्ति के अनुसार भारतीय दर्शन के सभी परवर्ती सिद्धान्तों का मूल उपनिषदों में ही निहित है। गढाभिसन्धि यह है कि उपनिषद्वाङ्मय आदर्श एवं यथार्थ, प्रज्ञा एवं भावना, दृश्य एवं अदृश्य सभी विषयों की परिकल्पनाओं का समन्वित स्वीकृत रूप है, जिसकी दार्शनिक महत्ता तथा आध्यात्मिक उपयोगिता स्वयंसिद्ध है।

बारह प्रमुख उपनिषदों का सामान्य परिचय जानने के पश्चात् ईशावास्योपनिषद् के मन्त्रों की व्याख्या समझने में सुकरता रहेगी क्योंकि ब्रह्मरूपी सूत्र में ही ये प्रमुख उपनिषदें उपनिबद्ध हैं। स्थाणुनिखननन्याय से परसत्ता की स्थापना में उपनिषद्कारों ने बौद्धिक चिन्तन को आलोडित कर जिस नवनीत को निःसृत किया उसी की प्रथम स्निग्धता ईशावास्योपनिषद् की मन्त्रराशि में द्रष्टव्य है।

चतुर्थ इकाई - (1-5 श्लोक)

4.0 सन्दर्भ सहित व्याख्या

सन्दर्भ– ईशावास्योपनिषद् का प्रारम्भ शान्तिपाठ से हो रहा है–

ऊँ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

ऊँ शान्तिः शान्तिः शातिः।

अन्वय– ऊँ अदः पूर्णम्, इद पूर्णात् उदच्यते। पूर्णस्य पूर्णम् आदाय, पूर्णम् एव अवशिष्यते।

अनुवाद– सत्, चित् तथा आनन्दस्वरूप परब्रह्म पूर्ण (सर्वथा एवं सर्वदा) है। यह कार्यभूत जगत् भी पूर्ण है। क्योंकि उस पूर्ण परब्रह्म से ही यह पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है। पूर्ण के पूर्ण को निकाल देने पर भी पूर्ण ही अवशिष्ट रहता है।

आध्यात्मिक शान्ति, आधिदैविक शान्ति तथा आधिभौतिक शान्ति होवे।

व्याख्या– परिविद्या के प्रतिपादन से पूर्व उपनिषद्कार ने परब्रह्म की सार्वकालिक तथा सार्व था देशिक परिपूर्णता की ओर इंगित किया है। परब्रह्म दिव्य गणित के अनुसार ह्रास-वृद्धि से रहित सर्वदा पूर्ण की सर्वोच्च स्थिति में रहते हैं। अस्ति, जायते, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते तथा विनश्यति इन षड्भावविकारों से असंपृक्त परब्रह्म 'पूर्णता' का पर्याय है। जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय का सिद्धान्त भी उसे जागतिक क्रिया-कलापों से सर्वथा असम्बद्ध रखता है।

विशेष

1. ईशावास्योपनिषद् के प्रारम्भ एवं अन्त में समान शान्तिपाठ मिलता है। ज्ञातव्य है कि केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरीय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक इन नौ उपनिषदों के प्रारम्भ और अन्त में पठित शान्तिपाठ तुल्य है। केवल श्वेताश्वतर एवं कौषीतकि इन दो उपनिषदों के आदि-अन्त का शान्तिपाठ पृथक्-पृथक् है।

2. आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक तीनों प्रकार के दुःखों की प्रतिकूलवेदनीयता होने से उपनिषद्कारों ने शान्ति पद का तीन बार प्रयोग किया है। दुःखों की शान्ति अवस्था में ही सृजन का सुख प्राप्त होता है।

3. दुःखत्याग की जिज्ञासा में ही भारतीय दर्शन का बीज प्रस्फुटित हुआ।

सन्दर्भ– कण-कण में व्याप्त ईश की व्यापकता एवं एषणात्रयत्याग का उपदेश करते हुए उपनिषद्कार ने प्रथम मन्त्र उपस्थित किया है–

ईशा वास्यमिदँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥1॥

अन्वय– जगत्यां यत् किञ्च जगत्, इदं सर्वम् ईशा वास्यम्। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः, कस्य स्विद्धनम् मा गृधः॥1॥

अनुवाद– जगत् में जो कुछ भी चर-अचर वस्तु है, वह सब ईश्वर से आच्छादित है। अतः उसका त्यागपूर्वक उपभोग करो, किसी के धन का लोभ मत करो।।1।।

व्याख्या– शास्त्रप्रतिपादित इस ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी दिखलाई पड़ता है, वह सब ईश=प्रत्यगात्मा से परिव्याप्त है। वेदान्तदृष्टि से यही प्रत्यगात्मा पारमार्थिक रूप से 'सत्' है, तद्भिन्न यच्च-यावत् पदार्थ 'असत्' है। यह कथन वेदान्तदृष्टि को इंगित करता है और उसे परिपुष्ट करता है। अद्वैतपरक ईशोपनिषद् के अनुसार ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता, जगत् की व्यावहारिक सत्ता तथा रज्जु में सर्प, शुक्ति में रजतादि की प्रातिभासिक सत्ता है। नाम, रूप और कर्म के आकार में प्रकट होने वाला यह सम्पूर्ण जगत् विकारमात्र ही है। अर्थात् जगत् ब्रह्म का अतात्त्विक रूप है। जिस प्रकार अग्नि और स्फुलिंग में अंशाशिभाव सम्बन्ध है। उसी प्रकार प्रत्यगात्मा 'ब्रह्म' जीवांश रूप में शरीररूप उपाधि से संयुक्त हो कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि औपाधिक सम्बन्ध से युक्त होता है। जागतिक व्यवहार के सम्पादन में जीवात्मा जड़ पदार्थों से अपना स्वामित्वभाव स्थापित करता है। यहीं से बिम्ब-प्रतिबिम्ब के प्रतीतिक अभेद का सिद्धान्त सृजित होता है। जिस प्रकार गगनस्थ सूर्य का जलप्रतिबिम्बित सूर्य से अभेद स्थापित होने पर मानव अज्ञानवश सूर्य को प्रकम्पित आदि क्रियाओं से युक्त समझता है। स्वच्छ स्फटिक को जपाकुसुम के संयोग से रक्तिमवर्ण का समझता है। दर्पण में प्रतिबिम्बित मुख से बिम्बस्थानीय मुख में मलिनता आदि का आधान कर अज्ञानी मनुष्य दुःखी होता है। जीवात्मा पक्ष में सुख-दुःख आदि समस्त अनुभूतियाँ अतात्त्विक हैं, असद्रूप हैं। किन्तु रागानुबन्ध के कारण मनुष्य पुत्रैषणा, वित्तैषणा एवं लोकैषणा से जकड़ा रहता है।

जिस प्रकार अन्धकारमय कक्ष में रखी हुई समस्त वस्तुएँ अपने नाम, रूप का परित्याग कर देती हैं, वैसे ही अज्ञानाच्छादित जीव जागतिक पदार्थों के व्यावहारिक रूप को नहीं समझ पाता है। अपितु उनसे अभेद स्थापित कर राग-द्वेषानुबन्धित होता है। किन्तु कक्ष के प्रकाशित होने पर जैसे कक्ष में रखी वस्तुएँ अपने नाम-रूप को प्राप्त होती हैं वैसे ही अज्ञान के नष्ट होने पर जीव को यह ज्ञान होता है कि मैं जड़ पदार्थों से भिन्न, उनके क्रिया-कलापों से पारमार्थिक असम्बद्ध शुद्ध प्रत्यगात्मा रूप हूँ।

अतः जागतिक पदार्थों का आसक्तिपूर्ण नहीं, अपितु त्यागपूर्ण सेवन करना चाहिए। इस प्रकार ईश्वर की भावना करने से सब कुछ अर्थात् सम्पूर्ण जगत् छूट जाता है। अत एव यह सभी कुछ आत्मा से ही उत्पन्न हुआ है। सब कुछ आत्मस्वरूप होने के कारण असद्रूप जगत् की मिथ्या भावना नहीं करनी चाहिये। अर्थात् असत्पदार्थविषयिणी इच्छा का परित्याग अभिप्रेत है, यही मन्त्र की फलश्रुति है।।1।।

विशेष

1. उपनिषद्शिरोमणि ईशोपनिषद् का प्रथम **'ईशा'** पद उपनिषद्वाङ्मय के उपजीव्यभूत अर्थात् सारभूत प्रतिपाद्य विषय को इंगित करता है। ईश उपनिषद्साहित्य का मूलस्थानीय है। भाष्यकार आचार्य शंकर का वचन है– **'ईशिता परमेश्वरः परमात्मा सर्वस्य। स हि सर्वमीष्टे।'** ईशा यह वैदिक व्याकरण का रूप है। ईट् शब्द से तृतीयाविभक्ति एकवचन में ईश रूप बनता है।

2. **'वास्यम्'** पद से जगत् के आच्छादक ईश की व्यापकता बतलाई गई है। ईश की सर्वत्र उपस्थिति अनुभवनीय है। बाह्य जगत् की भाँति वह प्राणियों के शरीर के अन्दर भी निवास करता

है। आचार्य शंकर के अनुसार ब्रह्म सद्रूप है तथा जगत् असद्रूप। ब्रह्म वास्तविक है तो जगत् अवास्तविक। अतः आचार्य शंकर की घोषणा है– **'अनृतमिदं सर्वं चराचरम्'।**

3. उपनिषद् का अभिप्राय प्राणियों को पलायनवाद की ओर अभिमुख करना नहीं अपितु कमलपंकन्याय की भाँति प्रयोग की जाने वाली वस्तुओं के गुण-दोषों से अपने को विमुख रखना है। निस्पृह भाव से जागरित पदार्थों के प्रति अपने प्रयोगाधिकार का अनुसरण करे। यही **तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा** का निहितार्थ है।।1।।

सन्दर्भ– कर्म के सिद्धान्त की स्थापना करने के लिये अग्रिम मन्त्र प्रस्तुत हो रहा है–

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा।

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ 2॥

अन्वय– इह कर्माणि कुर्वन् एव शतं समाः जिजीविषेत्। एवं कर्म त्वयि नरे न लिप्यते। इतः अन्यथा न अस्ति।।2।।

अनुवाद– इस संसार में कर्मों को सम्पादित करते हुए ही सौ वर्षपर्यन्त जीने की इच्छा करनी चाहिए। इस प्रकार सम्पादित कर्म से मनुष्य लिप्त नहीं होता है। इससे भिन्न अन्य कोई मार्ग नहीं है (जिसका अनुसरण करते हुए व्यक्ति शुभाशुभ कर्म से लिप्त न हो सके)।।2।।

व्याख्या– मनुष्यों को चाहिए कि आत्मोज्जीवन के लिये आजीवन विद्याप्राप्तिपर्यन्त नित्य-नैमित्तिक अग्निहोत्रादि कर्मों को करता रहे। अग्निहोत्रादि नित्य-नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान विद्या की प्राप्ति में सहायक होता है। इस प्रकार कर्म करता हुआ मनुष्यत्वाभिमानी सौ वर्षपर्यन्त जीवित रहने की अभिलाषा रखे। शास्त्रविहित कर्मों का अनुष्ठान करने से व्यक्ति अशुभ कर्मों से बद्ध नहीं होता है।।2।।

विशेष

1. प्रथम मन्त्र में संन्यासी के लिये ज्ञाननिष्ठा (ज्ञानमार्ग) को बतलाया गया है तथा इस द्वितीय मन्त्र में संन्यासमार्ग का पालन करने में अशक्त पुरुष के लिए कर्मनिष्ठा (कर्ममार्ग) का उपदेश है। ये दोनों ही परम्पराप्राप्त मार्ग हैं।

2. ज्ञाननिष्ठ संन्यासी को जीवन या मरण या लोभ नहीं करना चाहिए। वन की ओर प्रस्थान करना चाहिए। वहाँ से पुनः आवास की ओर प्रत्यावर्तित नहीं होना चाहिए यही वैदिक विधान है।

3. आचार्य शंकर के अनुसार ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग दो पृथक्-पृथक् पन्थ हैं। क्योंकि दोनों के फल भिन्न-भिन्न हैं। इन दोनों मार्गों का समुच्चय नहीं हो सकता है। पर्वत का अकम्पन (स्थिरत्व) जैसे असन्दिग्ध है, वैसे ही कर्ममार्ग और ज्ञानमार्ग का पार्थक्य सुनिश्चित है। इन दोनों मार्गों में ज्ञानमार्ग श्रेष्ठ है– **'न्यास एवात्यरेचयेत्।'**।।2।।

सन्दर्भ– अनात्मविद् की निन्दा करते हुए तृतीय मन्त्र उपस्थित हो रहा है–

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।

ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चाऽऽत्महनो जनाः ॥ 3॥

अन्वय– (ये) असुर्या नाम लोकाः (वर्तन्ते), ते अन्धेन तमसा आवृताः (सन्ति)। ये के च

आत्महनः जनाः (सन्ति), ते प्रेत्य तान् अभिगच्छन्ति।।3।।

अनुवाद– जो असुरप्रधान लोक हैं, वे अन्धकारमय तमोगुण से आच्छादित हैं। और जो कोई आत्मघाती मनुष्य हैं, वे मृत्यु को प्राप्त होने के पश्चात् उन तमोबहुल लोकों को जाते हैं। अर्थात् इन्हें ऐसे लोकों की प्राप्ति होती है।।3।।

व्याख्या– जो परमात्मभाव के ज्ञान से रहित हैं, वे अनात्मविद् हैं। जो आत्मा का घात अर्थात् नाश करते हैं, वे आत्मघाती कहलाते हैं। अज्ञानी जीव ही आत्मघाती हैं, क्योंकि अज्ञानरूप दोष के कारण आत्मा का स्वरूप तिरोहित हो जाता है। आत्मा के अजरत्व-अमरत्व स्वरूप का तिरोधान हो जाता है। ऐसे अज्ञानी व्यक्ति अन्धकारमय तमोगुणप्रधान लोको में ही आवागमन करते रहते हैं।।3।।

विशेष–

1. शंकराचार्य का विचार है कि आत्मज्ञानी की तुलना में द्वैतबुद्धिसम्पन्न दैवादि को भी असुर कहते हैं और उनके आवासभूत लोक को असुर्य कहा जाता है। ये वे लोक हैं जहाँ कर्मफल दिखलाई पड़ता है। प्राणी अपने कर्म के अनुसार सुख-दुःखादि का भोग करता है।

2. सत्त्वगुण प्रकाशस्वरूप होता है किन्तु तमोगुण अपने अज्ञानरूप अन्धकार से सात्त्विक ज्ञान को आच्छादित कर देता है। ऐसे तमोबहुल लोक को अज्ञानाच्छादित कहा गया है। ऐसे अज्ञानरूपी तिमिर से आच्छादित लोकों में देहात्माभिमानी लोग अज्ञानविधया परिभ्रमण करते रहते हैं।

3. **आत्मानं घ्नन्तीत्यात्महनः–** इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो आत्महनन करते हैं, वे आत्महन्ता कहे जाते हैं। तुच्छ को सर्वस्व मानने वाली मकड़ी जिस प्रकार अपने जाल में फँस जाती है उसी प्रकार देहात्माभिमानी अज्ञानी व्यक्ति जागतिक पदार्थों के प्रबल रागात्मक भँवर में फंस जाता है और मोक्ष का द्वार उसके लिये अवरुद्ध हो जाता है। यही मन्त्र की फलाभिसन्धि है।।3।।

सन्दर्भ– जिस आत्मा के हनन से अज्ञानी जीव संसार में संसरण करते हैं तथा उनके विपरीत ज्ञानी लोग, जो आत्मघाती नहीं हैं, मुक्त हो जाते हैं उस आत्मा का स्वरूप कैसा है? यही तथ्य चतुर्थ मन्त्र के द्वारा बतलाया जा रहा है–

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।

तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥4॥

अन्वय– अनेजत् एकं मनसः जवीयः, एनत् देवाः न आप्नुवन्, पूर्वम् अर्षत्, तत् धावतः अन्यान् अति एति, तस्मिन् अपः मातरिश्वा दधाति।।4।।

अनुवाद– वह परमात्मा अपने स्वरूप से विचलित न होने वाला, एक तथा मन से भी अधिक द्रुतगामी है। उसको चक्षुरादि इन्द्रियाँ (इन्द्रियों के अधिष्ठाता इन्द्रादि देवता) प्राप्त नहीं कर सकती हैं। क्योंकि वह उन सभी से पहले ही वहाँ पहुँचा हुआ है। वह गमनशील दूसरे वायु, काल आदि का अतिक्रमण कर जाता है। सर्वत्र व्याप्त ईश्वर की स्थिरता में वायु आदि देवगण मेघादिरूप जलों को धारण करने में समर्थ होते हैं। अथवा अन्तरिक्ष में प्राणों को धारण करने वाले वायु के सदृश जीव कर्म अथवा क्रिया को धारण करते हैं।।4।।

जीव कर्म अथवा क्रिया को धारण करते हैं।।4।।

व्याख्या– ईश्वर अविचल, सर्वगत एवं इन्द्रियातीत है। वायु आदि समस्त भूतों का वह संचालक एवं बाधारहित है। ईश्वर की महिमा से ही अग्नि, सूर्य तथा मेघ आदि के दहन, प्रकाशन तथा वर्षणरूप कार्यों को मातरिश्वा (वायु) विभक्त कर पाता है। अभिप्राय यह है कि मातरिश्वा आदि जो अन्य पदार्थों को संचालित करते हैं, वे स्वयं सूत्रात्मारूप आत्मा के अधीन हैं। यह आत्मतत्त्व अपने से भिन्न अनात्मभूत तीव्र गतिशील मन, वाणी आदि इन्द्रियों का अतिक्रमण कर जाता है।।4।।

विशेष

1. मन्त्र के **'अनेजत्'** पद से निर्विकार आत्मा में षड्भावविकारों का प्रतिषेध किया गया है। अनात्मभूत पदार्थों की परिवर्तनशीलता से वह सर्वथा अस्पृश्य है। वह कूटस्थनित्य है न कि परिणामीनित्य। वही एक आत्मतत्त्व समस्त जीवधारियों में विद्यमान है।

2. आत्मा ध्रुव और निश्चल है तो दूसरी ओर मन से भी अधिक वेगशाली है। आत्मा में ये दोनों विरोधी बातें निरूपाधिक और सोपाधिक रूप से उपपन्न हो जाती हैं। निरूपाधिक रूप से आत्मा अविचल और एक है। किन्तु संकल्प-विकल्पवान् मनरूप उपाधि के कारण उसमें गतिमत्ता है।

3. अन्तरिक्ष में जो संचरण करता है उसे **'मातरिश्वा'** कहते हैं। इस प्रकार **'मातरिश्वा'** पद का अर्थ वायु है।

4. आचार्य शंकर ने **'द्योतनाद् देवाः'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार विषयों की प्रकाशिका होने के कारण इन्द्रियों को ही 'देव' पद का अर्थ बलताया है। दिवादिगण की **'दिव्'** धातु से देव शब्द बना है। यहाँ **'दिव्'** धातु का प्रकाशन अर्थ गृहीत है।।4।।

सन्दर्भ– पञ्चम मन्त्र के द्वारा आत्मा का स्वरूप पुनः स्थापित किया जा रहा है–

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।।5।।

अन्वय– तत् एजति, तत् न एजति। तत् दूरे। तत् उ अन्तिके। तत् अस्य सर्वस्य अन्तः, तत् अस्य सर्वस्य उ बाह्यतः।।5।।

अनुवाद– वह (आत्मतत्त्व) गतिशील है, वह गतिशील नहीं (भी) है। वह दूर है, वह दूर नहीं (भी) है। वह इस समस्त के भीतर है, वह सबके भीतर नहीं (भी) है अर्थात् सबसे बाहर है।।5।।

व्याख्या– स्वयं अचलस्वरूप होते हुए भी वह आत्मा गमनशील प्रतीत होता है। अज्ञानियों के लिये दूरस्थ सा प्रतीत होता हुआ भी वह आत्मतत्त्व तत्त्वज्ञानियों के अत्यन्त निकट है। आकाश के समान व्यापक होने के कारण जगत् के भीतर भी स्थित है।।5।।

विशेष-

1. अगम्य एवं अगोचर आत्मतत्त्व को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से भूयोभूयः प्रतिपादित करने पर भी पुनरुक्तिदोष नहीं आता है, क्योंकि इसे शब्दों से चित्रांकित करने का प्रयासमात्र किया जाता है। उपनिषद्कारों ने तो **'नेति-नेति'** कह कर इसके स्वरूप-प्रतिपादन में अन्ततः असमर्थता व्यक्त की

2. आत्मतत्त्व (ब्रह्म) की विलक्षणता एवं अद्वितीयता इसी में है कि वह बाह्यधर्मा प्रतीत होता हुआ भी अपने पारमार्थिक रूप में बाह्य धर्मों से सर्वथा एवं सर्वदा पृथक् है। यह अटूट सिद्धान्त है कि प्रतिबिम्ब के धर्म बिम्बभूत पदार्थ के कभी नहीं होते हैं। इसीलिये आत्मा को अविकारी कहा गया है।

3. किञ्च जो पदार्थ जिसके बाहर होता है, वह उसके भीतर नहीं होता है। संसार की कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है, जो किसी वस्तु के बाहर भी पूर्ण रूप से रहे तथा वह उस वस्तु के भीतर भी पूर्ण रूप से रहे। ब्रह्म की ही यह विचित्रता है कि वह अन्तःबाह्य सर्वत्र विद्यमान है। यही ब्रह्म की अद्वितीयता तथा अनुपमेयता है।।5।।

पञ्चम इकाई (6-12 श्लोक)

सन्दर्भ– अभेददर्शी की स्थिति बतलाते हुए अगला मन्त्र उपस्थित हो रहा है–

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।

सर्वभूतेषु चाऽऽत्मानं ततो न विजुगुप्सते॥6॥

अन्वय– यः तु सर्वाणि भूतानि आत्मनि एव अनुपश्यति, आत्मानं च सर्वभूतेषु (पश्यति), (सः) ततः न विजुगुप्सते।।6।।

अनुवाद– फिर जो ज्ञानी व्यक्ति सम्पूर्ण प्राणियों को अर्थात् चराचरात्मक जगत् को आत्मा में ही देखता है तथा समस्त भूतों में आत्मा को ही देखता है, वह उस अभेददर्शन के कारण किसी के प्रति घृणा की भावना नहीं रखता है।।6।।

व्याख्या– जब तत्त्वज्ञानी में अभेदबुद्धि का उदय होता है तब वह भूतों में आत्मा को और आत्मा में भूतों को अनुप्रविष्ट देखता है। ऐसे अभेददर्शी की समदृष्टि का परिणाम यह होता है कि किसी के प्रति घृणा का भाव उसमें जागरित नहीं होता है, क्योंकि वह प्राणिमात्र में आत्मतत्त्व को सन्निहित मानता है।।6।।

विशेष–

1. मन्त्र में आये '**यः**' सर्वनाम को आचार्य शंकर ने परिव्राट् मुमुक्षु का वाचक माना है।

2. अव्यक्त से लेकर स्थावरपर्यन्त समस्त पदार्थ '**भूत**' पद के वाच्य हैं।

3. सभी प्रकार की घृणा; स्वभिन्न दोषयुक्त पदार्थ को देखने से ही व्यक्ति में, उत्पन्न होती है। ज्ञानाग्नि से चित्तकालुष्य भस्मीभूत हो जाता है।।6।।

सन्दर्भ– षष्ठ मन्त्र में प्रतिपादित साधक की अभेददृष्टि को पुनः व्याख्यायित करते हुए सप्तम मन्त्र उपस्थित हो रहा है–

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥ 7॥

अन्वय– यस्मिन् विजानतः सर्वाणि भूतानि आत्मा एव अभूत्, तत्र एकत्वम् अनुपश्यतः कः मोहः? कः शोकः?।।7।।

अनुवाद– जिस अवस्था में विशिष्ट ज्ञानवान् (आत्मसाक्षात्कारकृत) पुरुष के लिये समस्त चराचर जगत् आत्ममय ही हो गया, उस अवस्था में एकत्वदर्शी ज्ञानी को (किसी जागतिक पदार्थ के विषय में) कैसी रागात्मकबुद्धि और कैसी द्वेषबुद्धि।।7।।

व्याख्या– सम्पूर्ण जगत् में ब्रह्मात्मकत्व का दर्शन शोक और मोह का निवर्तक है। प्रपञ्च की सत्ता अविद्याजनित है। अविद्या के वशीभूत होकर अज्ञानीजन जागतिक पदार्थों के प्रति आसक्ति रखते हैं और रागात्मक पदार्थों की प्राप्ति में उपस्थित बाधा उनके शोक का कारण बनती है। लेकिन आत्मज्ञान से जिसकी जगत् के प्रति भेदबुद्धि क्षीण हो गई है, ऐसे ज्ञानी योगी में मोह और शोक

की सम्भावना नहीं रहती है।।7।।

विशेष–

1. अभेददर्शी के ज्ञान का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य शंकर लिखते हैं कि जिस प्रकार कार्य-कारण (अवयव-अवयवी) के समूहरूप इस शरीर का मैं आत्मा हूँ, इसकी समस्त प्रतीतियों का साक्षी हूँ, जड़ शरीर में चैतन्य का संचार करने वाला चेतयिता हूँ, विकारशून्य और निर्गुण हूँ, अव्यक्त से लेकर स्थावरपर्यन्त समस्त भूतों का भी आत्मा हूँ– ऐसे आत्मदर्शन के कारण ही किसी के प्रति जुगुप्सा और अभिरुचि योगी में शेष नहीं रहती है। ज्ञानाग्नि से अविद्याजनित राग-द्वेषादि कालुष्य दग्ध हो जाते हैं।

2. '**शोकश्च मोहश्च कामकर्मबीजमजानतो भवति**';– आचार्य शंकर के इस वचन के अनुसार शोक और मोह तो काम और कर्म के बीज को न जानने वाले को होते हैं।

3. '**न त्वात्मैकत्वं विशुद्धं गगनोपमं पश्यतः**' आत्मा के सदृश विशुद्ध आत्मा की एकता को देखने वाले तत्त्वज्ञानी को शोक और मोह नहीं होता है। इसी को तत्त्वज्ञानी की जीवन्मुक्त अवस्था कहते हैं। विदेहमुक्ति से पूर्व साधक जागतिक पदार्थों के आकर्षण-विकर्षण, राग-द्वेष, सुख-दुःख की द्वन्द्वात्मक स्थिति पर विजय प्राप्त कर लेता है।7।।

सन्दर्भ– पूर्व मन्त्रों द्वारा प्रतिपादित आत्मा (ब्रह्म) के स्वरूप को प्रस्तुत मन्त्र के द्वारा पुनः समझाया जा रहा है–

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम्।

कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥8॥

अन्वय– स पर्यगात् शुक्रम् अकायम् अव्रणम् अस्नाविरं शुद्धम् अपापविद्धम्। कविः मनीषी परिभूः स्वयम्भूः शाश्वतीभ्यः समाभ्यः याथातथ्यतः अर्थान् व्यदधात्।।8।।

अनुवाद– वह आत्मा (ब्रह्म) सर्वव्यापक, परम तेजोमय, अशरीरी, क्षतरहित, स्नायुरहित, पूर्ण विमल, पापरहित, सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ, सर्वनियन्ता एवं स्वयंसिद्ध है। वह परमेश्वर नित्य प्रजाओं के लिये यथार्थरूप से पदार्थों का विधान करता है।।8।।

व्याख्या– आत्मा सर्वगत होने से (आकाश की भाँति) व्यापक है अर्थात् समस्त दिशाओं में पहुँचा होने के कारण पर्यगात् है। आत्मा ज्योतिष्मान् अर्थात् दीप्तिस्वरूप होने के कारण शुक्र है। स्थूल-सूक्ष्म शरीर की अवधारणा से रहित होने से अकाय है। शरीरधर्मा न होने से अव्रण (अक्षत) है। स्नायु आदि की संरचना से परे, होने के कारण अस्नाविर है। अविद्यारूप मल से रहित होने के कारण शुद्ध है। धर्मादि पाप से असंपृक्त होने के कारण अपापविद्ध हैं। क्रान्तदर्शी (सर्वज्ञ) होने से कवि है। आत्मा से भिन्न कोई अनुभव करने वाला न होने से मनीषी है। सभी के ऊपर होने के कारण परिभू है। स्वयं होने के कारण वह स्वयम्भू है। उस नित्यमुक्त ईश्वर ने सर्वज्ञ होने के कारण मनुष्यों के कर्मानुसार यथायोग्य सम्पूर्ण पदार्थों की रचना की है। अर्थात् यथायोग्य रीति से उनका विभाग किया है। यथा-तथा के भाव से समन्वित होने से याथातथ्य है। ईश्वर ने न्याय्यतापूर्वक नित्यसंवत्सरनामक प्रजापतियों के लिये पृथक्-पृथक् कर्तव्यों का विभाजन किया है।।8।।

विशेष–

1. **'शुक्रमित्यादीनि वचांसि पुल्लिङ्गत्वेन परिणेयानि स पर्यगादित्युपक्रम्य कविर्मनीषीत्यादिना पुल्लिङ्गत्त्वेनोपसंहारात्'**– इस वाक्य के द्वारा आचार्य शंकर मन्त्र के पदों की व्याकरणिक संगति लगाते हुए कहते हैं– पिछले षष्ठ एवं सप्तम मन्त्रों में आए 'आत्मा' शब्द के पुल्लिङ्गत्व की दृष्टि से प्रस्तुत मन्त्र के आरम्भ में उसके लिये प्रयुक्त '**सः**' तथा आगे आये **कविः**,**मनीषी**, **परिभूः**, तथा **स्वयंभूः** सभी पुल्लिङ्ग के पद हैं। किन्तु **शुक्रम्, अकायम्, अव्रणम्, अस्नाविरम्, शुद्धम्,** तथा **अपापविद्धम्** नपुंसकलिङ्ग के पद हैं। अतः वाक्य के उपक्रम और उपसंहार के अनुसार इनका भी लिङ्ग परिवर्तन कर लेना चाहिए। इस प्रकार ये पद **शुक्रः**, **अकायः**, **अव्रणः**, **अस्नाविरः**, **शुद्धः** तथा **अपापविद्धः** रूप से विपरिणत होकर परमात्मा के वाचक बन जायेंगे।

2. तत्त्वज्ञानियों ने स्वानुभूति के आधार पर निर्विशेष तथा निरूपाधिक आत्मा को सविशेष और सौपाधिक पद्धति से शब्दाङ्कित किया है। यह असीम को ससीम की परिधि में रखने का प्रयोगमात्र है।।8।।

सन्दर्भ– ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग का प्रतिपादक अग्रिम मन्त्र उपस्थित हो रहा है–

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।

ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाँ रताः॥9॥

अन्वय– ये अविद्याम् उपासते (ते) अन्धं तमः प्रविशन्ति। ये विद्यायां रताः, ते उ ततः भूय इव तमः (प्रविशन्ति)।।9।।

अनुवाद– जो मनुष्य अविद्या अर्थात् कर्म की उपासना करते हैं, वे अज्ञानबहुल अन्धकार में प्रवेश करते हैं और जो मनुष्य (कर्म की उपेक्षा करके) विद्या अर्थात् ज्ञान में तल्लीन रहते हैं, वे उससे भी अधिक घनीभूत अन्धकार में प्रवेश करते हैं।।9।।

व्याख्या– विद्या में भिन्न जो अविद्या है, ऐसी कर्मरूप अविद्या की जो उपासना करते हैं अर्थात् अविद्यारूप अग्निहोत्रादिलक्षणक कर्म में ही जो संलग्न रहते हैं, वे गहन अदर्शनात्मक अन्धकारमय लोक में प्रवेश करते हैं। किञ्च उस अन्धकारमय लोक से भी कहीं अधिक अन्धकारयुक्त स्थान में वे लोग पहुँचते हैं, जो कर्म त्याग कर केवल विद्या अर्थात् दैवतज्ञान में ही रत रहते हैं।।9।।

विशेष

1. '**अविद्या**' पद का लक्षण करते हुए आचार्य शंकर ने लिखा है– '**विद्याया अन्याऽविद्या तां कर्म**' इस व्युत्पत्ति के अनुसार अविद्या भावरूप नहीं अपितु अभावरूप है। विद्या से भिन्नरूप है। विद्या से भिन्न तो कर्म ही है। अतः अविद्या का अर्थ अग्निहोत्रादि देवकर्म है। अविद्यारूप कर्म में विद्याविरोधित्व है। अर्थात् कर्म का विद्या से परस्पर विरोध है।

2. '**विद्या**' पद के अभिप्रेत अर्थ को बतलाते हुए आचार्य शंकर ने लिखा है– '**ये तु विद्यायामेव देवताज्ञान एव रता अभिरताः**' इस वचन के अनुसार प्रकृत में 'विद्या' पद देवताज्ञान

का वाचक है। यह देवविद्या आत्मविद्या नहीं है।

3. यहाँ कर्म के साथ समुच्चित रूप में देवताओं के ज्ञान को ही रखा गया है, न कि परम आत्मविषयक ज्ञान को। क्योंकि उसका फल **'विद्य या देवलोकः'** अर्थात् विद्या के द्वारा देवलोक की प्राप्ति होती है, इस प्रकार सुना गया है। जब कि आत्मज्ञान का फल मोक्ष है। आत्मज्ञान से प्राप्य फल से यह सर्वथा पृथक् है। अतः देवताविषयक ज्ञान अर्थात् उपासना और कर्म का समुच्चय है, न कि आत्मज्ञान के साथ कर्म का समुच्चय है।

4. **'इह तु समुच्चिचीषयाऽविद्वदादिनिन्दा'**– आचार्य शंकर के इस वाक्य का अभिप्राय यह है कि प्रस्तुत श्लोक में विद्या (देवज्ञान) और अविद्या (कर्म) में से प्रत्येक के पृथक्-पृथक् अनुष्ठान की निन्दा दोनों के समुच्चय की दृष्टि से की गई है। अर्थात् पृथक्-पृथक् अनुष्ठान करने वालों की निन्दा की गई है। विद्या और अविद्या की निन्दा नहीं की गई है। जब ये दोनों ही शास्त्रविहित हैं, तब ये अकरणीय नहीं कहे जा सकते हैं।।9।।

सन्दर्भ– विद्या और अविद्या का पृथक्-पृथक् फल बतलाते हुए अग्रिम मन्त्र उपस्थित हो रहा है–

अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया।

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥10॥

अन्वय– विद्यया अन्यत् एव आहुः, अविद्यया अन्यत् आहुः। इति धीराणां शुश्रुम, ये नः तत् विचचक्षिरे।।10।।

अनुवाद– विद्या से अर्थात् देवताज्ञान से अन्य ही फल (साध्य) कहा गया और अविद्या (कर्म) से भिन्न फल बतलाया गया है। इस प्रकार (हमने) बुद्धिमानों के विचार (वचन) सुने हैं, जिन्होंने हम लोगों के लिये उस (कर्म और देवताज्ञान) की व्याख्या की है।।10।।

व्याख्या– देवविषयकज्ञान अर्थात् विद्या से देवलोक की प्राप्ति होती है और कर्म अर्थात् अविद्या से पितृलोक की प्राप्ति होती है। इस प्रकार विद्या और अविद्या के विषय में मनीषी आचार्यों ने हमें जो बतलाया है, वह उन्हें परम्परा से प्राप्त है। इससे इस ज्ञान की प्रामाणिकता असन्दिग्ध है।।10।।

विशेष

1. **'विद्यया देवलोकः। विद्यया तदारोहन्ति'**– इस वचन से प्रमाणित होता है कि देवविषयक ज्ञान अर्थात् विद्या का फल देवलोक पर आरूढ होना है।

2. **'अविद्यया कर्मणा क्रियते, कर्मणा पितृलोकः'**– इस वचन से सिद्ध होता है कि कर्म अर्थात् अविद्या के उपासक पितृलोक को प्राप्त करते हैं।

3. देवलोक समस्त लोकों में श्रेष्ठ है। इसलिये मन्त्र में 'विद्या' साधन की प्रशंसा की गई है। ज्ञातव्य है कि मोक्ष का साधन कर्म (अविद्या) तथा कर्मनिरपेक्ष विद्या दोनों सर्वथा भिन्न ही हैं। केवल कर्म और केवल उपासनामार्ग दोषपूर्ण है। भिन्न-भिन्न फल वाले इन दोनों विद्या और अविद्या का समुच्य विहित है। यहीं प्रस्तुत मन्त्र की गूढाभिसन्धि है।।10।।

सन्दर्भ– विद्या और अविद्या से प्राप्तव्य फलों का स्वरूप स्पष्ट करते हुए अग्रिम मन्त्र उपस्थित हो रहा है–

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँ सह।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥11॥

अन्वय– यः विद्यां च अविद्यां च (इति) तत् उभयं सह वेद। (सः) अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्यया अमृतम् अश्नुते।।11।।

अनुवाद–जो मनुष्य 'विद्या' अर्थात् देवताज्ञान और 'अविद्या' अर्थात् अग्निहोत्रादि शास्त्रविहित कर्म– इन दोनों को एक साथ अनुष्ठेय जानता है, वह अविद्या से मृत्यु को पार करके विद्या अर्थात् देवताज्ञान से अमृत (देवात्मभाव) को प्राप्त करता है।।11।।

व्याख्या– जो विद्या और अविद्या को एक ही पुरुष के द्वारा अनुष्ठान किये जाने योग्य समझता है, उस देवताज्ञान और कर्म को समुच्चित रूप से करने वाले व्यक्ति का ही एक ही पुरुषार्थ के साथ क्रमशः सम्बन्ध होता है। अविद्या से मृत्यु का अतिक्रमण करके वह विद्या से अमृतत्व को प्राप्त करता है।।11।।

विशेष

1. **'मृत्यु'** पद का अर्थ स्पष्ट करते हुए आचार्य शंकर लिखते हैं– **'मृत्युं स्वाभाविकं कर्म ज्ञानं च मृत्युशब्दवाच्यम्'**– स्वाभाविक कर्म और ज्ञान मृत्युशब्द का वाच्य है। इस प्रकार अग्निहोत्रादि कर्म से जीवनयापन करता हुआ व्यक्ति मृत्यु का अतिक्रमण करता है।

2. अग्निहोत्रादि कर्म से प्राप्त मृत्यु का विशिष्ट फल है देवत्वभाव की प्राप्ति। यह देवत्वभाव देवताज्ञान का सुफल है।

3. **'अमृत'** शब्द को स्पष्ट करते हुए आचार्य शंकर लिखते हैं– **'अमृतं देवात्मभावम्।'** आचार्य शंकर ने यहाँ विद्या और अविद्या की एक साथ उपासना करने वाले उपासक की कर्म और ज्ञान इन दोनों को पार करके देवत्वभाव को प्राप्त होने की दृढ़तापूर्वक स्थापना की है। इस प्रकार विद्या और अविद्या, उपासना और कर्म परस्पर एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं, अपितु वे अङ्गाङ्गिभाव से साथ-साथ अनुष्ठेय हैं। जो साधक इन दोनों के मर्म को समझ लेता है, वह शास्त्रविहित कर्मों का स्वरूपतः परित्याग नहीं करता है। इस प्रकार नवम, दशम एवं एकादश ये तीनों मन्त्र एक ही सिद्धान्त को व्याख्यायित करते हैं।।11।।

सन्दर्भ– व्याकृत अर्थात् व्यक्त कार्य और अव्याकृत अर्थात् अव्यक्त कारण की उपासनाओं का समुच्चय करने की इच्छा से सम्भूति और असम्भूति में से किसी एक की निन्दा का प्रतिपादक मन्त्र उपस्थित हो रहा है–

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।

ततो भूय इव ते तमो य सम्भूत्याँ रताः॥12॥

अन्वय– ये असम्भूतिम् उपासते, (ते) अन्धं तमः प्रविशन्ति। ये सम्भूत्यां रताः, ते ततः उ भूयः इव तमः (प्रविशन्ति)।।12।।

अनुवाद– जो मनुष्य अव्यक्त प्रकृति की उपासना करते हैं, वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं। जो लोग कार्यरूप जागतिक पदार्थों में आसक्त रहते हैं, वे उनकी अपेक्षा मानों और भी अधिक अन्धकार में प्रवेश करते हैं।।12।।

व्याख्या– जो समस्त तत्त्वों की बीजभूता प्रकृति अर्थात् असम्भूति की उपासना करते हैं, वे उसी के अनुरूप अदर्शनात्मक घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं। इतना ही नहीं वे लोग उससे भी सघन अन्धकार में प्रवेश करते हैं, जो लोग हिरण्यगर्भाख्य कार्यब्रह्म अर्थात् सम्भूति में रत रहते हैं।।12।।

विशेष

1. आचार्य शंकर ने **'सम्भूति'** पद का विग्रह इस प्रकार किया है– **सम्भवं सम्भूतिः सा यस्य कार्यस्य सा सम्भूतिः'** अर्थात् सम्भव शब्द का अर्थ है– उत्पत्ति। यह उत्पत्ति जिस कार्य की होती है, उस कार्य को सम्भूति करते हैं। सम्भूति पद से समस्त कार्यरूप जागतिक पदार्थों का संग्रह होता है किन्तु आचार्य शंकर ने **'सम्भूत्यां कार्यब्रह्मणि हिरण्यगर्भाख्ये रताः'** इस वाक्यांश के द्वारा कार्यब्रह्म अर्थात् हिरण्यगर्भ को सम्भूति पद का वाच्य माना है।

2. **'असम्भूति'** पद को व्याख्यायित करते हुए आचार्य शंकर ने लिखा है– **'असम्भूतिः प्रकृतिः कारणमविद्याऽव्याकृताख्या'** अर्थात् कार्यरूप सम्भूति से भिन्न कारणरूपा असम्भूति को प्रकृति, अविद्या अथवा अव्याकृत का वाच्य माना जाता है।

3. उपासना एकाङ्गी नहीं, अपितु कार्यकारणात्मक उभयरूप होनी चाहिए। एकांगी उपासना का फल घोर अन्धकार की प्राप्ति है। अतः सम्भूति-असम्भूति-समुच्चय की उपासना यहाँ अभिप्रेत है।।12।।

षष्ठ इकाई (13-18 श्लोक)

सन्दर्भ– अग्रिम मन्त्र में पूर्व प्रतिपादित असम्भूति और सम्भूति की उपासना के समुच्चय का कारण तथा दोनों की पृथक्-पृथक् उपासना का पृथक्-पृथक् फल होना प्रस्तावित है–

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥13॥

अन्वय– सम्भवात् अन्यत् एव आहुः, असम्भवात् अन्यत् आहुः। इति (वयं) धीराणां (वचः) शुश्रुम, ये न तत् विचचक्षिरे।।13।।

अनुवाद– सम्भव (सम्भूति) में अर्थात् कार्यब्रह्म की उपासना से दूसरा ही फल कहा गया तथा असम्भव (असम्भूति) से अर्थात् अव्यक्तोपासना से तद्भिन्न फल बतलाया गया है। ऐसा हमने बुद्धिजीवियों से सुना है, जिन्होंने हमारे लिये इसकी व्याख्या की है।।13।।

व्याख्या– 'सम्भव' शब्द हिरण्यगर्भनामक कार्य-ब्रह्म के लिये प्रयुक्त हुआ है एवं 'असम्भव' शब्द अव्याकृत प्रकृति के लिये। तत्त्वज्ञानियों ने इन दोनों प्रकार की उपासनाओं से प्राप्त फलों को भिन्न-भिन्न बतलाया है।।13।।

विशेष

1. विगत मन्त्रों में कथित विद्या-अविद्या, सम्भूति-असम्भूति एवं प्रकृत मन्त्र में प्रयुक्त सम्भव-असम्भव के द्वारा प्रतिपादित उपासनाओं के फलों का विश्लेषण आचार्य शंकर ने समान दृष्टि से किया है। शब्दप्रयोग की विविधता से मूल सिद्धान्त व्याहत नहीं होता है, अपितु उसे स्पष्टता प्राप्त होती है।

2. '**सम्भव**' पद सम्भूति के अर्थ में प्रयुक्त है और वह कार्य ब्रह्मोपासना का वाचक है, यह तथ्य आचार्य शंकर के इस वाक्यांश से परिपुष्ट होता है– '**सम्भवात् सम्भूतेः कार्यब्रह्मोपासनात्**'। प्रकृति के महदादि कार्यों में ब्रह्मरूपेण चिन्तन करने वाले साधक को अणिमादिलक्षणक ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है।

3. '**असम्भव**' पद 'असम्भूति' के अर्थ में प्रयुक्त है और वह अव्याकृत=मूलकारणरूपा प्रकृति का वाचक है। शंकर का वचन है– '**असम्भवादसम्भूतेरव्याकृतात्**'। प्रकृति की आत्मत्वेन उपासना करने वाले साधक पुराणोक्त 'प्रकृतिलय' फल को प्राप्त करते हैं। अभिप्राय यह है कि अनात्म में आत्मबुद्धि कर उसकी उपासना करने वाले साधक तद्रूप बन्धपरक फल को प्राप्त करते हैं, न कि सर्वथा एवं सर्वदा बन्धनमुक्त 'मोक्ष' के पात्र होते हैं।।13।।

सन्दर्भ– अग्रिम मन्त्र में सम्भूति-असम्भूति का ही विषय विस्तार हो रहा है–

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयँ सह।

विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते॥14॥

अन्वय– यः सम्भूतिं च विनाशं तत् उभयं सह वेद, (सः) विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्या

अमृतम् अश्नुते।।14।।

अनुवाद– जो प्रकृति और विनाशी कार्यब्रह्म इन दोनों को साथ-साथ (फल देने वाला) जानता है, वह विनाश अर्थात् हिरण्यगर्भनामक कार्यब्रह्म की उपासना से मृत्यु को पार करके कारणभूता प्रकृति की उपासना से अमृत (प्रकृतिलय) को प्राप्त कर लेता है।।14।।

व्याख्या– सम्भूति और विनाश दोनों को विद्या की प्राप्ति के अङ्गरूप से अनुसंधान करना चाहिये। अनुसन्धान किये जाने वाले विनाश के द्वारा विद्याप्राप्ति के प्रतिबन्धकों को दूर करके उपासक अनुसन्धान की जाने वाली सम्भूति के द्वारा ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।।14।।

विशेष

1. मन्त्र के प्रथम पद **'सम्भूतिम्'** की अर्थगत व्याख्या करते हुए आचार्य शंकर ने व्यवस्था की है कि इस पद में अवर्ण का लोप हुआ है। अतः **'असम्भूति'** को ही सम्भूति कहा है अन्यथा 'प्रकृतिलय' फलश्रुति की संगति नहीं लग पायेगी– **'सम्भूतिं च विनाशं चेत्यत्रावर्णलोपेन निर्देशो द्रष्टव्यः, प्रकृतिलयफलश्रुत्यनुरोधात्'।**

2. मन्त्रगत **'विनाश'** पद को व्याख्यायित करते हुए आचार्य शंकर ने लिखा है– **'विनाशेन विनाशो धर्मो यस्य कार्यस्य स तेन धर्मिणाऽभेदेनोच्यते विनाश इति।'** विनाश-विनाशवान् में धर्म-धर्मी की भाँति अभेदसम्बन्ध है। विनाश धर्म का अपने कारणभूत धर्मों के साथ अभेदसम्बन्ध रहता है। इस प्रकार धर्मिगत विनाश से विनाशशील कार्य=धर्म को इंगित किया है।।

3. ऐसे विनाशशील कार्य की उपासना करने से चित्तनिष्ठ अधर्म तथा कामादि दोषों से उत्पन्न होने वाले अनैश्वर्य अर्थात् सामर्थ्यविच्छेदरूप मृत्यु को पार करके साधक असम्भूति अर्थात् अव्यक्तोपासना के द्वारा प्रकृतिलयरूप अमृत को पार कर लेता है।

4. पुरुषार्थमूलक होने से सम्भूति और असम्भूति इन दोनों उपासनाओं का समुच्चय युक्तिसंगत है।।14।।

सन्दर्भ– 'अमृतत्व' की प्राप्ति के विषय को आगे बढ़ाते हुए अग्रिम मन्त्र के द्वारा बतलाया जा रहा है कि जो ब्रह्म की उपासना करता है तथा जो वेदोक्त कर्म को करता है, वह साधक अन्तिम समय के निकट आने पर आत्मा से आत्मप्राप्ति के द्वार की याचना किस प्रकार करता है–

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।

तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥15॥

अन्वय– हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य मुखम् अपिहितम्। हे पूषन्! सत्यधर्माय दृष्टये त्वं तत् अपावृणु।।15।।

अनुवाद– सुवर्णनिर्मित पात्र से आदित्यमण्डलस्थ ब्रह्म का स्वरूप आवृत है। हे जगत्पोषक सूर्य! मुझ सत्यधर्मा को आत्मा की उपलब्धि कराने के लिये उस आवरण को हटा लीजिये।।15।।

व्याख्या– सुवर्ण के सदृश वस्तु को हिरण्य कहते हैं। हिरण्मय पद का अर्थ ज्योतिर्मय है। उस हिरण्मय पात्र के समान ढक्कन रूप आवरण के द्वारा सत्य अर्थात् आदित्यमण्डल ब्रह्म का

मुख अर्थात् द्वार आच्छादित है। हे पूषन्! उसे आप हटा दें। सत्यधर्म अर्थात् सत्यस्वरूप आपकी उपासना करने से सत्यधर्म के धारक मुझ सत्यधर्मा के लिये अथवा यथार्थ धर्म का अनुष्ठान करने वाले मेरे लिये, जिससे कि मैं आपके सत्यस्वरूप की उपलब्धि कर सकूँ।।15।।

विशेष

1. जो ज्ञान और कर्म का समुच्चय करने वाला है, वह अन्त समय में आदित्य की प्रार्थना करता है।

2. जिस प्रकार पात्र से अपनी अभीष्ट वस्तु ढक दी जाती है उसी प्रकार यह सत्यसंज्ञक ब्रह्म मानों ज्योतिर्मय ढक्कन से ढका हुआ है। क्योंकि जिनका चित्त समाहित अर्थात् स्थिर एवं विशुद्ध नहीं है, उन पुरुषों के लिये यह अदृश्य है। वही बात कही जा रही है कि सत्य का मुख अर्थात् मुख्य स्वरूप ढका हुआ है।

3. सत्यस्वरूप के दर्शन के प्रतिबन्धक आवरण को अनावृत करने के लिये जगत् के पोषक सूर्यदेवता से प्रार्थना की जा रही है, जिससे सत्य का साक्षात्कार हो सके।

4. अमृतत्व की प्राप्ति के मार्ग को बतलाते हुए कहा गया है कि यह जो सत्य है, वह वही आदित्य है। इस आदित्यमण्डल में जो पुरुष है तथा जो पुरुष दक्षिण नेत्र में है, वे दोनों ही सत्य हैं। जो ब्रह्म की उपासना करने वाला तथा यथोक्त कर्म को करने वाला है, वह अन्तकाल के उपस्थित होने पर इस आदित्यमण्डलस्थ आत्मा से प्रकृत मन्त्र द्वारा याचना कर रहा है।

5. बृहदारण्यकोपनिषद् के पाँचवें अध्याय के पन्द्रहवें ब्राह्मण में यह मन्त्र आया है।।15।।

सन्दर्भ–प्रस्तुत मन्त्र में भी सूर्यदेवता से सत्यानुसन्धान के लिये प्रार्थना की गई है–

पूषन्नेकर्षे यम सूर्यप्राजापत्य व्यूह रश्मीन्।

समूह तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि।

योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि॥16॥

अन्वय– हे पूषन्! एकर्षे! सूर्य! प्राजापत्य! रश्मीन् व्यूह, तेजः समूह। यत् ते कल्याणतमं रूपं तत् ते पश्यामि। यः असौ असौ पुरुषः, सः अहम् अस्मि।।16।।

अनुवाद– हे सर्वपोषक! हे एकचारिन्! हे सर्वनियामक! हे सूर्य! हे प्रजापतिनन्दन! आप अपनी रश्मियों को हटा लीजिए। अपने तेज को संकुचित कर लीजिए। आपका जो अतिशय कल्याणमय स्वरूप है, उसे मैं आपके अनुग्रह से देख रहा हूँ। यह जो आदित्यमण्डल पुरुष है, वही मैं हूँ।।16।।

व्याख्या– हे पूषन्! हे एकर्षे! हे यम ! हे सूर्य! हे प्राजापत्य! अपनी किरणों को हटा ले और तेज को समेट लें। तुम्हारा जो अत्यन्त कल्याणकारी स्वरूप है, उसे मैं देखता हूँ। यह जो आदित्यमण्डलस्थ पुरुष है, वही मैं अमृतस्वरूप हूँ।।16।।

विशेष

1. **'जगतः पोषणात् पूषा'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार जगत् का पोषण करने के कारण

सूर्य को पूषा कहते हैं।

2. **'एक एव ऋषति गच्छतीत्येकर्षिः'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार सूर्य अकेला ही चलता है, इसलिये उसे एकर्षि कहते हैं। जैसा कि **'सूर्य एकाकी चरति'** इस मन्त्रवर्ण से ज्ञात होता है। बृहदारण्यकोपनिषद् में एकर्षि के अन्य अर्थ बतलाते हुए आचार्य शंकर ने कहा है– जो एक ऋषि हो, वह एकर्षि है। दर्शन करने के कारण वह ऋषि है, क्योंकि वही समस्त जगत् का आत्मा और नेत्र होकर सबको देखता है।

3. **'सर्वस्य संयमनाद् यमः'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार सम्पूर्ण जगत् का संयमन करने के कारण सूर्यदेवता को यम कहते हैं।

4. **'रश्मीनां प्राणानां रसानां च स्वीकरणात् सूर्यः'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो किरणसमूह, प्राणादिवायु तथा मधुरादि रसों का सुष्ठुरूपेण शोषण करता है, वह सूर्य कहलाता है।

5. **'प्रजापतेरपत्यं प्राजापत्यः'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रजापति अर्थात् ईश्वर अथवा हिरण्यगर्भ का पुत्र होने के कारण सूर्य को प्राजापत्य कहते हैं।

इन पांच विशेषणों से सूर्यदेवता को सम्बोधित कर उनके अनुकूल होने की प्रार्थना की गई है। जिस प्रकार बिजली की चमक में मनुष्य रूपों को नहीं देख पाता है, उसी प्रकार तेज से दृष्टि नष्ट हो जाने के कारण साधक सूर्य के स्वरूप को साक्षात् नहीं देख पाता है। अतः सूर्यदेवता से तेज को उपसंहृत करने की प्रार्थना की गई है।

6. **'पश्यामि'** इस क्रिया पद की व्याख्या करते हुए आचार्य शंकर ने बृहदारण्यक उपनिषद् में लिखा है कि– **'पश्यामो वयम्'** इस प्रकार वचनव्यत्यय के द्वारा बहुवचन करके 'हम देखते हैं' ऐसा अर्थ ग्राह्य है। **'व्यत्ययो बहुलम्'** ऐसा पाणिनि सूत्र भी है।

7. **'योऽसावसौ पुरुषः'** इस मन्त्रांश का वक्तव्य स्पष्ट करते हुए आचार्य शंकर ने लिखा है कि मैं आपसे भृत्य के समान याचना नहीं कर रहा हूँ क्योंकि यह जो **'भूर्भुवः स्वः'** इन व्याहृतिरूप अवयवों वाला आदित्यमण्डलस्थ पुरुष है, वही मैं हूँ।

8. आचार्य शंकर ने पुरुष शब्द की तीन व्युत्पत्तियाँ की हैं–

1. पुरुषकारत्वात् पुरुषः। 2. प्राणबुद्ध्यात्मा जगत्समस्तमिति पुरुषः। 3. पुरि शयनाद्वा पुरुषः।

9. आदित्य और चाक्षुष पुरुष के अहर् और अहम् ये गुह्यनाम हैं। अतः यहाँ उन्हीं का परामर्श किया गया है। अर्थात् **'सोऽहमस्मि अमृतम्'** वह मैं अमृत हूँ, इस प्रकार इसका सम्बन्ध है।।16।।

सन्दर्भ– प्रस्तुत मन्त्र में मरणोन्मुख उपासक की प्रार्थना वर्णित है–

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तँ शरीरम्।

ऊँ क्रतो स्मर कृतँ स्मर क्रतो स्मर कृतँ स्मर ।।17।।

अन्वय– अथ वायुः अमृतम् अनिलं (प्राप्नोतु)। इदं शरीरं भस्मान्तं (स्यात्)। ऊँ क्रतो!

अनुवाद– अब मेरा प्राण सर्वात्मक वायुरूप सूत्रात्मा को प्राप्त हो जाये और यह शरीर भस्मसात् हो जाये। हे मेरे संकल्पात्मक मन! अब तू स्मरण कर, अपने किये हुए कर्म का स्मरण कर। हे मन! तू पर्यालोचन कर, सम्पादित कर्म का मूल्यांकन कर।।17।।

व्याख्या– शरीरपात होने पर मुझ अमृतरूप सत्य का जो शरीरस्थ वायु अर्थात् प्राण है वह अनिल अर्थात् बाह्य वायु को प्राप्त हो जाय और दूसरे देव अपने-अपने मूल को प्राप्त हो जायँ। तथा यह शरीर भी भस्मशेष होकर पृथिवी को प्राप्त हो जाय। हे मन! अब स्मरण करने योग्य जो है उसका स्मरण कर।।18।।

विशेष

1. सूक्ष्मशरीर के लय को दृष्टि में रखकर प्रार्थना की जा रही है कि अब मुझ मरणासन्न का प्राणवायु आध्यात्मिक सीमाओं (शरीर और मानस बन्धनों) को त्यागकर अधिदैव स्वरूप सर्वात्मक वायु, जो अमृत अर्थात् सूत्रात्मारूप है, को प्राप्त होवे, ऐसा वाक्यशेष है। अर्थात् वाक्य की सम्पूर्ति के लिये **'प्रतिपद्यताम्'** इस क्रियापद का अध्याहार कर लेना चाहिए। इस श्रुति से प्रार्थना की गई है कि ज्ञान (दैवतप्रधान विद्या) तथा कर्म (अविद्याप्रधान क्रिया) के संस्कारों से संस्कारित यह लिङ्गशरीर (सूक्ष्मशरीर) सुष्ठुरूपेण उत्क्रमण करे।

2. प्रार्थना का द्वितीय चरण है कि यह स्थूलशरीर अग्नि को समर्पित कर दिये जाने पर भस्मीभूत होकर समाप्त हो जाय।

3. प्रार्थना के तृतीय चरण में मन में स्थित अपने संकल्पभूत अग्निदेवता से प्रार्थना की जाती है। ऊँ और क्रतो ये सम्बोधनवाचक शब्द हैं। अग्नि ऊँकाररूप प्रतीक वाला होने से ऊँ तथा मनोमय होने के कारण क्रतु है। हे मन! तो स्मरण करने योग्य पदार्थ का स्मरण कर क्योंकि तदनुरूप गति प्राप्त होती है।

4. **'कृतो स्मर कृतो स्मर'** मन्त्र का यह पुनरुक्ति वाक्य आदर के लिये है।।17।।

सन्दर्भ– प्रस्तुत मन्त्र के द्वारा उपासक अग्निदेव से परलोक यात्रा के लिये मार्ग की याचना कर रहा है–

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।

युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम।।18।।

अन्वय– अग्ने! देव! विश्वानि वयुनानि विद्वान् राये सुपथा अस्मान् नय। अस्मत् जुहुराणम् एनः युयोधि। ते भूयिष्ठां नम उक्तिं विधेम।।18।।

अनुवाद– हे अग्निदेव! हमारे सम्पूर्ण कर्मों को जानने वाले आप ऐश्वर्य (शोभनकर्मफलभोग) के लिये हमें अच्छे मार्ग से ले चलिये। हमारे कुटिल मार्गानुसरणरूप पापों को नष्ट कर दीजिये। हम आपके लिये अनेक नमस्कार-वचन करते (कहते) हैं।।18।।

व्याख्या– हे अग्ने! हमें कर्मफल की प्राप्ति के लिये शुभमार्ग से ले चलिये। पुनरावृत्तियुक्त दक्षिण अर्थात् धूममार्ग से मत ले चलिये। सुपथ अर्थात् उज्ज्वल देवयान मार्ग से ही हमें ले चलिये। हे देव! आप हमारे सम्पूर्ण प्रज्ञानों को जानने वाले हैं। हमारे सारे कुटिल पापों को हम से दूर कीजिए।

उन पापों से विमुक्त होकर हम आपकी कृपा से उत्तरायणमार्ग को जायेंगे। हम आपकी परिचर्या करने में समर्थ नहीं हैं। अतः नमस्कारोक्ति द्वारा आपकी परिचर्या कर सकें।।18।।

विशेष

1. आचार्य शंकर ने स्पष्ट किया है कि मन्त्र में सुपथा पद का प्रयोग दक्षिणमार्ग की निवृत्ति के लिये हुआ है– **'सुपथेति विशेषणं दक्षिणमार्गनिवृत्त्यर्थम्।'**

2. दक्षिणमार्ग, धूममार्ग, पितृयान ये तीनों पुनरावृत्तियुक्त (गतागतलक्षण) मार्ग के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

3. देवयान को उज्ज्वल मार्ग कहा जाता है। इसी को उत्तरायणमार्ग भी कहते हैं।।18।।

ईशावास्योपनिषद् की उपसंहारात्मिका पुष्पिका इस प्रकार है–

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

इति वाजसनेयसंहितोपनिषत्सम्पूर्णा।।

1.9 उपयोगी पुस्तकें

उपाध्याय बलदेव, भारतीय दर्शन, चौखम्भा ओरियन्टालिया, काशी

मिश्र आद्याप्रसाद, ईशावास्योपनिषद्, अक्षयवट प्रकाशन, इलाहाबाद

द्विवेदी शिव प्रसाद, ईशावास्योपनिषद्, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी

1.10 बोधप्रश्न

1. दर्शनशास्त्र का क्या अर्थ है?
2. कितनी प्रमुख उपनिषदें हैं?
3. ईशोपनिषद् का सामान्य परिचय क्या है?
4. ईशावास्योपनिषद् के भाष्यकार आचार्य शंकर के विषय में आप क्या जानती हैं?
5. उपनिषदों की प्रतिपादन-शैली के विषय में अपने विचार लिखिये।
6. ईशावास्योपनिषद् के प्रथम मन्त्र की व्याख्या कीजिये।

....

....

NOTES

UGST - 07

संस्कृत

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

खण्ड-दो (भाग-एक)

श्रीमद्भगवद्गीता

प्रथम - इकाई श्रीमद्भगवद्गीता	5
द्वितीय - इकाई जीवन-शैली एवं आचार संहिता	22
तृतीय - इकाई द्वितीय अध्याय 1-36 श्लोक	30

परामर्श-समिति

प्रो0 केदार नाथ सिंह यादव	कुलपति - अध्यक्ष
डॉ0 हरीशचन्द्र जायसवाल	कार्यक्रम - संयोजक
श्री मिठाई लाल कनौजिया	कुलसचिव - सचिव

विशेषज्ञ-समिति

1- प्रो0श्री नारायण मिश्र	सेवानिवृत्त प्रोफेसर, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
2- प्रो0 युगल किशोर मिश्र	संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी
3- प्रो0 हरे राम त्रिपाठी	म0 गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी
4- प्रो0 श्रीकिशोर मिश्र	काशी हिन्दू विशविद्यालय, वाराणसी

सम्पादक

प्रो0 के0 पी0 सिंह — वरिष्ठ परामर्शदाता (संस्कृत)

लेखिका

प्रो0 विमला कर्णाटक — काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

उत्तर प्रदेश राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की ओर से श्री डी.पी.त्रिपाठी, कुलसचिव द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित, सितम्बर, 2016

मुद्रक- चन्द्रकला यूनिवर्सल प्राइवेट लिमिटेड, 42/7 जवाहरलाल नेहरू रोड, इलाहाबाद

पाठ्यक्रम-परिचय

श्रीमद्भगवद्गीता ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र है। इसमें कुल अठारह अध्याय हैं। इसका प्रत्येक अध्याय एक-एक योग अथवा सम्पूर्ण योग का एक-एक अङ्ग है। भगवद्गीता के प्रथम अध्याय को 'विषादयोग' कहते हैं। इसी विषादयोग से ज्ञान का अधिकार प्राप्त होता है, अतः भगवद्गीता का द्वितीय अध्याय 'सांख्ययोग' है, इसे ज्ञानयोग भी कहते हैं। श्रीकृष्ण ने अर्जुन की शोकाकुलता के निवारण के आत्मज्ञान का निरूपण किया। नित्य-शुद्ध-मुक्त आत्मा के विशद वर्णन के साथ-साथ श्रीकृष्ण ने स्थितप्रज्ञ का स्वरूप-निरूपण किया है तथा अर्जुन को स्वक्षत्रिय धर्म के परिपालन की शिक्षा दी है।

प्रथम इकाई-श्रीमद्भगवद्गीता

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 भगवद्गीता का कलेवर एवं भाषा-शैली

1.3 भगवद्गीता का स्रोत एवं काल

1.4 भगवद्गीता का प्रतिपाद्य-विषय

1.4.1 दार्शनिक चिन्तन

1.0 उद्देश्य

इस इकाई में जीवन-शैली के प्रतिपादक चूडान्तग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीता के ज्ञान-कर्म-भक्ति पक्षों को उपपादित किया गया है। साथ ही यह भी प्रयास किया गया है कि आप श्रीकृष्ण के सारगर्भित वचनों में निहित परसत्ता की स्थापना की स्वानुभूति कर सकें। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप

- भगवद्गीता का कलेवर एवं उसकी भाषा-शैली से परिचित हो सकेंगे;
- भगवद्गीता की उत्पत्ति, कथा एवं उसके काल के विषय में समझ सकेंगे;
- भगवद्गीता में प्रतिपादित दार्शनिक विषयों का प्रारम्भिक परिचय प्राप्त कर सकेंगे;
- भगवद्गीता के प्रमुख संस्कृत-टीकाकारों का बोध हो सकेगा;
- भगवद्गीता के श्लोकों की व्याख्या-पद्धति को समझ सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

इस इकाई में श्रीमद्भगवद्गीता के द्वितीय एवं तृतीय अध्यायों में अर्जुन के प्रति श्रीकृष्ण के उपदेश का जो विषयसार है, उसे दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में उपपादित किया गया है। इस ग्रन्थ में समस्त वैदिक धर्म का सार स्वयं श्रीकृष्ण की वाणी में संगृहीत है। इस ग्रन्थ में सब उपनिषदों का सार समाहित है। इसी से इसका दूसरा नाम श्रीमद्भगवद्गीता उपनिषद् है। यह संस्कृत वाङ्मय का लोकप्रिय दार्शनिक ग्रन्थ है। यही एक ऐसा महनीय ग्रन्थ है, जिसमें दर्शन, धर्म और नीति का समन्वय हुआ है। श्रीमद्भगवद्गीता के लिये एक उक्ति प्रसिद्ध है–

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।

पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्।।

इसका अर्थ है कि सभी उपनिषदें गौस्थानीय हैं, अर्जुन वत्सस्वरूप हैं, दोहनकर्ता श्रीकृष्ण हैं तथा गीतामृत दुग्ध है, जिसका सेवन सुधीजन करते हैं। इसमें श्रीकृष्ण ने उन सभी विषयों की ओर अर्जुन का ध्यान आकृष्ट किया है, जो कर्म के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिये आवश्यक है। कर्म से सुख-दुःख का द्वन्द्व उत्पन्न होता है। कर्म करना मनुष्य का स्वभाव है। इसलिये गीता में कहा गया है कि सुख-दुःख, लाभ-हानि सभी द्वन्द्वों को समान समझना चाहिए। द्वन्द्व से मुक्त होने पर साधक स्थितप्रज्ञ की सर्वोच्च स्थिति पर प्रतिष्ठित होता है। ज्ञान-कर्म-भक्ति का समन्वितरूप गीता ग्रन्थ है। कोई भी स्वेच्छा और क्षमता के अनुसार किसी भी मार्ग का अन्वेषण कर सकता है और अपनी साधना से लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है। कर्महीनता का नाम साधना नहीं है। इसलिये गीता कर्मसंन्यास के स्थान पर कर्मयोग को विशेष महत्त्व देती है। श्रीकृष्ण का मत है कि यद्यपि संन्यास और कर्मयोग दोनों से निःश्रेयस् की प्राप्ति हो सकती है तथापि कर्म-संन्यास से कर्मयोग श्रेष्ठ है। ज्ञान के विना कर्म नहीं हो सकता, अतः श्रीकृष्ण अर्जुन को सर्वप्रथम ज्ञान का उपदेश करते हैं। भक्तियोग को ही पुरुषार्थसाधन का सर्वोत्तम साधन माना गया है। परन्तु भक्तियोग ज्ञान और कर्म का परित्याग नहीं करता है। गीता का दृष्टिकोण भाववादी तथा ईश्वरवादी होते हुए भी वह नवीन समाज की संरचना करती है। श्रीमद्भगवद्गीता जीवन-शैली की उद्भासिका है और सफलता के सूत्रों की अक्षय ज्ञानमंजूषा है।

1.2 श्रीमद्भगवद्गीता का कलेवर एवं भाषा-शैली

अठारह अध्यायों में विभक्त गीता में कुल सात सौ श्लोक हैं। गीता के प्रत्येक अध्याय में जो अध्याय समाप्ति-दर्शक संकल्प है, उसमें 'इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे' शब्दावली का प्रयोग मिलता है। विषय के आधार पर प्रत्येक अध्याय का नामकरण पृथक्-पृथक् है। अठारह अध्यायों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं–

प्रथम अध्याय–अर्जुनविषादयोग

द्वितीय अध्याय–सांख्ययोग

तृतीय अध्याय–कर्मयोग

चतुर्थ अध्याय–ज्ञानकर्मसंन्यासयोग

पञ्चम अध्याय–संन्यासयोग

षष्ठ अध्याय–आत्मसंयमयोग

सप्तम अध्याय–ज्ञानविज्ञानयोग

अष्टम अध्याय–अक्षरपरब्रह्मयोग

नवम अध्याय–राजविद्याराजगुह्ययोग

दशम अध्याय–विभूतियोग

एकादश अध्याय–विश्वरूपदर्शनयोग

द्वादश अध्याय–भक्तियोग

त्रयोदश अध्याय–क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग

चतुर्दश अध्याय–गुणत्रयविभागयोग

पञ्चदश अध्याय–पुरुषोत्तमयोग

षोडश अध्याय–दैवासुरसंपद्विभागयोग

सप्तदश अध्याय–श्रद्धात्रयविभागयोग

अष्टदश अध्याय–मोक्षसंन्यासयोग

गीता के इन अठारह अध्यायों में निःश्रेयस्-प्राप्ति के उपाय इतनी सुबोध एवं सरल भाषा में उपपादित किये गये हैं कि सर्वसाधारण को सरलता से समझ में आ सकते हैं। गीता को श्रीकृष्ण-अर्जुन-संवाद भी कहा गया है। उपनिषदों में भी संवाद-शैली का प्रचुर प्रयोग हुआ है। गीता का यह संवाद उपनिषद् साहित्य में प्राप्त होने वाले 'ब्रह्मज्ञानविषयक संवादों' से सर्वथा पृथक् है। धृतराष्ट्र को गीता सुनाने वाले संजय ने भी इसे अद्भुत संवाद कहा है–

राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।

केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः।।

भगवद्गीता 18/76

अतः गीता का संवाद शास्त्रीय पद्धति का न होकर काव्य अथवा नाटक की शैली से प्रस्तुत किया गया है। आचार्य शंकर, मधुसूदन सरस्वती और श्रीधरस्वामी ने गीता को 'गीताशास्त्र' शब्द से अलंकृत किया है।

गीता एक ऐसा दर्शन है जो विना किसी कठिन क्रिया और साधना के गृहस्थ धर्म में रहकर भी सामान्य रीति से दैनिक कृत्यों को करते हुए दर्शन के प्रयोजनमूलक पुरुषार्थ को सुलभ कराता है, साथ ही लौकिक व्यवहार का भी मार्गदर्शन करता है। जब कि वेद, उपनिषद्, न्याय-वैशेषिकादि के पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ केवल विद्वानों के चर्वित-चर्वण के लिये हैं।

संस्कृत वाङ्मय में श्रीमद्भगवद्गीता के अतिरिक्त गीताओं का भी उल्लेख मिलता है। पुराणों की संख्या अठारह है तथा प्रत्येक पुराण में एक-एक गीता है। कुछ प्रमुख गीताओं के नाम इस प्रकार हैं–

स्कन्दपुराणवर्णित ब्रह्मगीता

कूर्मपुराणवर्णित ईश्वरगीता

पद्मपुराणवर्णित शिवगीता

विष्णुपुराणवर्णित यमगीता

देवीभागवतप्रतिपादित देवीगीता

योगवासिष्ठवर्णित ब्रह्मगीता

भागवतपुराणवर्णित कपिलगीता

इसके अतिरिक्त गणेशगीता, अष्टावक्रगीता, अवधूतगीता, पाण्डवगीता, रामगीता आदि भी किसी न किसी पुराण से सम्बन्धित हैं। इन गीताओं की रचना विष्णु, शिव, देवी, गणेश इत्यादि देवताओं को ध्यान में रखकर की गई है। यद्यपि ये गीताएँ इसके अध्येताओं के मध्य प्रचलित नहीं हुई हैं, किन्तु इनका ऐतिहासिक महत्त्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। यहाँ अप्रत्यक्ष रूप से यह सिद्ध होता है कि भगवद्गीता की प्रसिद्धि से प्रेरित होकर इन टीकाओं का प्रणयन हुआ है। अतः अन्य गीताओं के होने पर भी भगवद्गीता की श्रेष्ठता निर्विवाद सिद्ध है।

भगवद्गीता के उपदेशों की दिशा सुस्पष्ट है, वह आचार-मीमांसा का प्रतिपादन करती है। इसलिये गीता योगशास्त्र कहलाती है। योग के अनेक अर्थों में एक अर्थ व्यवहार है। सांख्य का अर्थ है–तत्त्वज्ञान और योग का अर्थ व्यवहार या कर्ममार्ग है। प्रत्येक अध्याय की पुष्पिका में **ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे** कहने से तात्पर्य यही है कि गीता का मुख्य विषय ब्रह्मविद्या पर प्रतिष्ठित व्यवहार का प्रतिपादन करना है। तत्त्वसमीक्षा के आधार पर ही आचार-मीमांसा की सुन्दर प्रतिष्ठा होती है।

गीता की भाषा-शैली सरल और प्राञ्जल संस्कृत होने पर भी, वह सहज बोधगम्य ग्रन्थ नहीं है। श्रीभगवान् जितने विराट् और जितने विशाल हैं, उनकी उपदेशराशि भी वैसी ही विराट् और विशाल है। उनकी कथा सुनने वाले लोग भी अनेक और विचित्र प्रकार के हैं। भगवद्गीता की कथन-प्रणाली भी उसी प्रकार विलक्षण है। भक्त श्रोता की भावराशि की सीमा जिस प्रकार अनन्त है, उसी प्रकार भगवद्गीता के उपदेश भी अनन्त और अगाध हैं। चाहे कोई किसी प्रकार का रसाभिलाषी क्यों न हो, तदनुरूप रसास्वादन से गीता उसे वञ्चित नहीं करती। जैसे लोग पवित्र मन्दाकिनी में अवगाहन कर, सुस्नात होकर अपने-अपने पात्र में उसका सुनिर्मल जल भर लेते हैं, उसी प्रकार यदि इस पुण्यपूता भगवद्गीता-रूप प्रवाहिगी में जो प्रवेश करते हैं, पूर्ण मनोयोग से गोता लगाते हैं, वे अपने मत के अनुसार सैद्धान्तिक जल संगृहीत कर लेते हैं।

यही कारण है कि गीता के व्याख्याताओं में किसी ने द्वैतवाद को लेकर, किसी ने अद्वैतवाद को लक्ष्य करके और किसी ने द्वैताद्वैतभाव के अनुसार गीता की व्याख्या की है। कोई उसमें ज्ञान की प्रधानता, कोई भक्ति की प्रधानता तथा कोई कर्म की प्रधानता को लक्ष्य मानता है। भगवान् की एक युक्ति में पृथक्-पृथक् भावों का सन्धान पाया जाता है।

वेदान्त की अवधारणा इतनी व्यापक है कि उसके तीन स्रोत अथवा प्रस्थान हैं, जिन्हें समायोजित कर प्रस्थानत्रयी कहते हैं। वे तीन प्रस्थान हैं–उपनिषद्, श्रीमद्भगवद्गीता तथा ब्रह्मसूत्र। इस प्रकार वैदिक धर्म के आधारभूत ये तीन ग्रन्थ 'प्रस्थानत्रयी' कहे जाते हैं। ये तीनों क्रमशः श्रुतिप्रस्थान, स्मृतिप्रस्थान तथा न्यायप्रस्थान कहे गये हैं।

इस प्रकार भगवद्गीता का श्लोकात्मक कलेवर भले ही सात सौ पद्यों में सिमटा हुआ हो,

किन्तु इसका भावात्मक कलेवर उतना ही व्यापक है। श्रीवेदव्यास को महाभारत में गीता के विषय में कहना पड़ा–

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।

या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥

अभिप्राय यह है कि स्वयं श्रीपद्मनाभ विष्णु भगवान् के मुखारविन्द से निःसृत सुगीत है, फिर अन्य शास्त्रों का क्या प्रयोजन? श्रीमद्भगवद्गीता मन्त्रमाला है। मन्त्ररूपी फूलों की एक माला है, जिसे पढ़कर चित्त आनन्द से उल्लसित हो जाता है। इस मन्त्ररूपी माला का मनन करने से त्राण मिलता है। अपूर्व मन्त्रों की माला यह श्रीमद्भगवद्गीता अध्येताओं के मन-प्राण को न जाने किस चिरविस्मृत अथ च अपने नित्य निकेतन वैकुण्ठधाम के अपूर्व द्वार की ओर ले जाती है, जिसे सोचकर चित्त आनन्द से उल्लसित हो उठता है। ये सारी मुग्धकारी शक्तियाँ मन्त्ररूप वाक्य में ही रहती हैं।

छन्द का अर्थ है–दीप्ति करना या आनन्द करना। पद्यबन्ध या पद्य की जाति को भी छन्द कहते हैं। पद्य की विभिन्न आकृतियाँ छन्द द्वारा ही प्रकट होती हैं। मन की बीजावस्था में सुप्तभाव जब शब्दात्मक गति-सुर प्राप्त करता है, तब छन्द कहलाता है। सप्त व्याहृतियों के द्वारा जिस प्रकार गायत्री छन्द को अधिकृत किया जाता है, उसी प्रकार अनुष्टुप् छन्द की भी साधना है। अनुष्टुप् का अर्थ है सरस्वती या विद्यारूपिणी शक्ति अर्थात् वह ज्ञान जिसके उदय होने पर भवबन्धन छूट जाता है। **'अनु'** उपसर्गपूर्वक निष्पन्न अनुष्टुप् पद में **'स्तुभ्'** धातु है, जिसका अर्थ है स्तब्ध होना। इस गीतामन्त्रमाला का छन्द है स्तब्ध होना। इसी स्वर में, इसी अनुष्टुप् छन्द में भगवद्गीता प्रणीत हुई है। इस भगवद्गीतारूपी मन्त्रमाला के श्रीभगवान् वेदव्यास ऋषि हैं, अनुष्टुप् छन्द है और श्रीकृष्ण परमात्मा देवता हैं।

1.3 भगवद्गीता का स्रोत एवं काल

भगवद्गीता को श्रौत-परम्परा का ग्रन्थ माना जाता है। वेदों का सार उपनिषदों में है और गीता को 'समस्त वेदार्थ सारसंग्रहभूत' कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि चारों वेद, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् का सार भगवद्गीता में निहित है। वैदिक परम्परा भगवद्गीता में सुरक्षित है किन्तु यह भाव नहीं है कि गीता वेदों और उपनिषदों की पुनरावृत्तिमात्र है। पुनरावृत्ति अभ्यास का एक अंग हो सकती है, किन्तु विद्या नहीं है। गीता वैदिक तथा औपनिषदिक अवधारणाओं एवं कर्मकाण्डों की पुनरावृत्ति नहीं करती। सभी पर मौलिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए उन्हें प्रासंगिक बना देती है।

गीता की स्वर्ग के प्रति दृष्टि वैदिक है। गीता के अनुसार स्वर्ग की कामना करने वाले पुरुष पापों से पवित्र होकर सोमरस का पान करते हुए वेदानुकूल यज्ञ करते हैं। वचन है–

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।

किन्तु पुण्यक्षीण होने पर मृत्युलोक को प्राप्त होते हैं–

क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।

भगवद्गीता 9/21

गीता की मान्यता है कि स्वर्ग की कामना से क्षणिक सुख तो मिल सकता है, किन्तु मुक्ति या शाश्वत आनन्द की प्राप्ति सम्भव नहीं है। यज्ञों के स्थान पर वर्णाश्रम धर्म का महत्त्व अधिक है। यज्ञ सकाम कर्म है, अपनी इष्टपूर्ति के लिये यज्ञ किया जाता है, किन्तु गीता निष्काम कर्म का प्रतिपादन करती है। गीता पारम्परिक वैदिक परम्परा को स्वीकार करते हुए, वह अपनी मूलतया नवीन दृष्टि स्थापित करती है।

भगवद्गीता ने उपनिषदों से ही अपने सिद्धान्तविशेष के अनुकूल उनका रूपान्तर और विकास किया। उपनिषदों में गीता ने शब्दशः कुछ पंक्तियाँ या भाव ग्रहण किये हैं। गीता में ईश, कठ, छान्दोग्य, मैत्रेय्युपनिषद्, मुण्डक, प्रश्न, कौषितकी तथा श्वेताश्वर से भाषा एवं भाव ग्रहण किये गये हैं। अतः उपनिषद् गीता के प्रेरणास्रोत हैं।

कठोपनिषद् में 'सनातन अश्वत्थ वृक्ष' का वर्णन मिलता है, जिसका मूल ऊपर की ओर है और शाखाएँ नीचे की ओर हैं, जो शुद्ध शाश्वत ब्रह्म है, जिसमें समस्त लोकों की स्थिति है, जिससे परे और कुछ नहीं है–

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।

तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।

तस्मिंलोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन। एतद्वैतत्।

कठोपनिषद् 2/3/1

दूसरी ओर, भगवद्गीता अपने पन्द्रहवें अध्याय के प्रारम्भ में कहती है कि अश्वत्थ वृक्ष का मूल ऊपर की ओर है तथा शाखाएँ नीचे की ओर हैं। वेद इसके पर्ण हैं। नीचे-ऊपर दोनों ओर इसकी शाखाएँ फैली हुई हैं, जिसका परिपोषण गुणों से होता हैं। विषय इसके प्रवाल हैं। पुनः इसके अनन्त मूल कर्मरूप से फैलते हैं। वचन है–

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।

छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।

अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके॥

भगवद्गीता 15/1-2

जहाँ तक अश्वत्थ वृक्ष के ऊर्ध्वमूल तथा अधःशाखा होने का सम्बन्ध है, वहाँ तक भगवद्गीता और कठोपनिषद् एकमत हैं। किन्तु जहाँ उपनिषद् यह उपेदश देती है कि अश्वत्थवृक्ष सनातन और ब्रह्मस्वरूप है, अतः अच्छेद्य है, वहाँ भगवद्गीता का यह उपदेश है कि अश्वत्थ को

अनित्य और संसाररूप मानना चाहिए।

संस्कृतवाङ्मय में श्रीकृष्ण के मुख्यरूप से तीन स्वरूप सामने आते हैं–

1. महाभारत के कृष्ण।

2. गीता के कृष्ण।

3. भागवत के कृष्ण।

श्रीमद्भागवत में भगवान् का वीरत्वविधायक स्वरूप मिलता है। वैसे भागवत में श्रीकृष्ण के सभी स्वरूपों का विवेचन हुआ है, परन्तु प्रधानता रसिकेश्वरस्वरूप की है। श्रीकृष्ण के असुर-संहारी, राजनीति-वेत्ता तथा कूटनीतिज्ञ स्वरूप का वर्णन दशम स्कन्ध के उत्तरार्द्ध में मिलता है। भागवत के दशम स्कन्ध के पूर्वार्द्ध में जो असुरों के वध की कथाएँ हैं, वे भगवान् के बालरूप की हैं। इसलिये वे श्रीकृष्ण के अलौकिक चरित में आती हैं। कंसवध तक की लीलाएँ बाललीलाएँ हैं और वे सभी किशोरावस्था के कर्म हैं। उनके राजपद की प्रतिज्ञा जरासन्ध के युद्ध के अनन्तर द्वारका दुर्ग के निर्माण के साथ होती हैं। गीता की '**परित्राणाय साधूनाम्**' उक्ति की सार्थकता यहीं से प्रारम्भ होती है।

भगवद्गीता में स्वयं भगवान् कृष्ण के अवतार का हेतु बतलाते हुए कहा है कि जब-जब धर्म का ह्रास होता है और अधर्म की अभिवृद्धि होती है, तब-तब मैं साधु पुरुषों की रक्षा, दुष्कर्मियों के विनाश एवं धर्म की स्थापना के लिये प्रत्येक युग में अवतार लेता हूँ। इससे भगवदावतार के मुख्य तीन प्रयोजन व्यक्त होते हैं। वचन है–

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।।

भगवद्गीता 4/7-8

गीता महाभारत का ही अंश है। यह महाभारत के भविष्यपर्व के पच्चीसवें अध्याय से बयालिसवें अध्यायपर्यन्त अठारह अध्यायों का महनीय भाग है। महाभारत में सम्भावित विनाश की आशंका से विषण्ण अर्जुन के युद्धविरत होने की इच्छा को दूर कर उसे कर्ममार्ग में प्रवृत्त करने के उद्देश्य से श्रीकृष्ण ने जो उपदेश किया, वही गीता का प्रतिपाद्य विषय है।

गीता का उद्‌भव जिस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में हुआ, इससे वह वैचारिक समन्वय का एक अद्‌भुत ग्रन्थ बन पड़ा है। व्यक्तिगत अथवा सामाजिक प्रगति की कसौटी मानवीय और सामाजिक गुणों का उत्कर्ष है। व्यक्ति, परिवार और कुल से श्रेष्ठ समाज है। अर्जुन पाण्डव परिवार का एक सदस्य है, दुर्योधन धृतराष्ट्र का ज्येष्ठ पुत्र है। शकुनि की सहायता से पाण्डवों का अधिकार दुर्योधन येन-केन प्रकारेण स्ववंश में करना चाहता है। कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, कर्ण तथा भीष्म नीतिवान् होते

हुए भी दुर्योधन के पक्षधर हैं। धृतराष्ट्र और गांधारी पाण्डवों के सुख-दुःख में सहानुभूति रखते हैं, परन्तु दुर्योधन उनका पुत्र है और पुत्र के मोहपाश से वे मुक्त नहीं हैं। यह संघर्ष एक ही कुल के दो परिवारों के मध्य है। अर्जुन का विषाद पारम्परिक नैतिकता के विशृंखलित होने तथा आत्मीयजन की हत्या से कुलधर्म के नाश की सम्भावना से उत्पन्न हुआ है। अर्जुन न तो क्षत्रियोचित क्षमाभाव से प्रेरित है, न महामानवीय करुणा की कल्पना से। उसका विषाद मोहजनित कायरता को प्रकट करता है। गान्धारी, भीष्ण, द्रोण, शल्य सभी पारम्परिक नैतिकता के पोषक हैं। सत्य को जानते हुए भी उसका समर्थन नहीं करते। गान्धारी ने पतिव्रता बनकर नेत्रों पर पट्टी बाँध रखी है, जिससे सत्य न दिखाई दे। हस्तिनापुर के सिंहासन का उत्तराधिकारी युधिष्ठिर है अथवा दुर्योधन? इसका निर्णय किसी भी प्रकार के विचार-विनिमय के द्वारा नहीं हो पाता है और बात युद्ध तक आ पहुँचती है।

पाण्डव और कौरव अपनी-अपनी सेनाओं के साथ कुरुक्षेत्र की रणभूमि में आ गये। यहीं से भगवद्गीता का प्रारम्भ होता है–

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।

मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय।।

भगवद्गीता 1/1

श्रीकृष्ण अर्जुन के रथ के सारथी हैं। वे रथ को लेकर दोनों सेनाओं के मध्य जा खड़े हुए। परन्तु स्वजनों के मोह और कुलधर्म के विनाश के भय से अर्जुन का मन विचलित हो गया और वह युद्ध न करने का निश्चय कर बैठा। अर्जुन के मन में उठे द्वन्द्व का समन्वय श्रीकृष्ण की बुद्धि से ही सम्भव था। संजय धृतराष्ट्र को श्रीकृष्ण की भूमिका का संकेत देते हैं–

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।

विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः।।

भगवद्गीता 2/1

अर्जुन के मन में उठे हुए विचारों का अन्तर्विरोध इतना तीव्र हो गया था कि युद्धभूमि में खड़े हुए उसके अंग शिथिल हो रहे थे, मुख सूखा जा रहा था, शरीर में कम्प तथा रोमाञ्च हो रहा था, गाण्डीव हाथ से छूटा जा रहा था और वह खड़ा रहने में भी समर्थ नहीं था। वह पलायनवादी बनकर कहता है कि उसे न राज्य की इच्छा है, न विजय की और न भोग की। वह अपने गुरुजनों एवं परिवार वालों की हिंसा करने की अपेक्षा भिक्षान्न से जीवनयापन करना चाहेगा। उसका उद्घोष है–

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्, श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।

हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान् रूधिरप्रदिग्धान्।।

भगवद्गीता 2/5

इस तर्क से परास्त होकर अर्जुन अपना शस्त्र डाल देता है। इस तरह उसमें युद्ध करने

की पूर्व-मानसिक स्थिति के विपरीत युद्ध न करने की मानसिकता बन गई। किसी भी प्रकार के अन्तर्विरोध अथवा अन्तर्द्वन्द्व में कर्म करना असम्भव हो जाता है। द्वन्द्वात्मक मानसिकता कर्म की अवरोधक है, यह मन को संकल्प-विकल्प की प्रक्रिया में बाँध देती है। गीता का उद्देश्य भी इसी समन्वयात्मक मानसिक स्थिति को प्राप्त कराना था।

महाभारत के भीष्मपर्व के पूर्व में यह प्रसंग आ चुका है कि जब उभयपक्ष युद्ध के लिये कुरुक्षेत्र की विशाल रणभूमि में थे, उस समय व्यासजी धृतराष्ट्र के समीप आये तब धृतराष्ट्र ने कहा कि ऐसे महावीरों का युद्ध देखना भी सौभाग्य से प्राप्त होता है। मुझे तो नेत्रहीन होने के कारण यह सौभाग्य भी प्राप्त न हो सका है। तब व्यासजी बोले–'यदि तुम युद्ध देखना चाहते हो तो मैं तपोबल से तुम्हें नेत्र दे सकता हूँ।' इस पर धृतराष्ट्र बोले-मुनिवर! जीवनपर्यन्त तो अन्ध रहा हूँ। अब स्वयं और भ्रातृ-पुत्रों तथा उनके सहयोगी वीरों का नाश देखने के लिये ही नेत्र प्राप्त करूँ तो यह उचित नहीं है। हाँ, यदि कोई युद्ध का वर्णन सुना दे तो ठीक है। तब व्यासजी ने वहाँ उपस्थित संजय को अपने तपःप्रभाव से दिव्यदृष्टि देकर उससे कहा–हे संजय! तुम हस्तिनापुर में बैठकर ही युद्ध की सब घटना देख सकोगे। तुम राजा धृतराष्ट्र को युद्ध का वर्णन सुनाओ। मुनिवर व्यास के आदेश से एक बार युद्धभूमि में जाकर जब संजय लौटा और उसने भीष्म के पतन की घटना धृतराष्ट्र को सुनाई तो विशेष विवरण जानने की इच्छा से धृतराष्ट्र ने पूछा–हे संजय! धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में युद्ध करने की इच्छा से उपस्थित मेरे पुत्र और पाण्डव ने क्या किया? धृतराष्ट्र की इसी जिज्ञासा के उत्तर में युद्धभूमि में अर्जुन को श्रीकृष्ण के द्वारा दिये गये उपदेशों का वर्णन संजय ने किया है। अर्जुन के प्रति श्रीकृष्ण का उपदेश ही भगवद्गीता के रूप में आज जनमानस को कर्तव्यपथ का बोध करा रहा है।

ज्ञातव्य है कि इस गीता-मन्त्रमाला के ऋषि व्यासदेव हैं। वेदविभाग करने वाले मुनिविशेष को व्यास कहते हैं। व्यास किसी का नाम नहीं है, व्यास वेदविभागकर्ता ऋषि की उपाधि है। प्रत्येक द्वापरयुग के अन्त में मनुष्यों की आयु और स्मृतिशक्ति का ह्रास देखकर एक-एक वेदविभागकर्ता व्यास भगवदंश में जन्म ग्रहण करते हैं। द्वापर के अन्त में जिस अतिमानव ने जन्म लिया, उसका नाम रहा–कृष्णद्वैपायन व्यास। ये पराशर मुनि के पुत्र रहे। वचन है–**'मुनीनामप्यहं व्यासः।'**

कालजयी भगवद्गीता को कालावधि से सीमांकित करना इतिहासविदों का काम है। अन्तःसाक्ष्य और बाह्य साक्ष्यों के आधार पर इतिहासकारों ने भगवद्गीता का काल निर्धारित करने का प्रयास किया है। गीता महाभारत का ही अंश है। अतः महाभारत के काल से गीता का कालनिर्णय करना सुकर है। गीताकार ने भागवतधर्म के प्रभाव को बढ़ता हुआ देखकर उपनिषद् के सिद्धान्तों के साथ समन्वय करने का प्रयास किया है। गीता का दृष्टिकोण वेदों के प्रति उपनिषदों के समान ही है।

जावाद्वीप में महाभारत की जो प्रति मिलती है, उसके भीष्मपर्व में एक गीता प्रकरण है, जिसमें भगवद्गीता के श्लोक अक्षरशः मिलते हैं। केवल बारह, पन्द्रह, सोलह और सत्रहवें अध्यायों के श्लोक उसमें नहीं हैं। इससे यह आपत्ति नहीं की जा सकती है कि उस समय भी गीता का स्वरूप

वर्तमान गीता के सदृश ही था। गीता का वर्णन कलकत्ता के 'मॉडर्न रिव्यू' नामक मासिक पत्रिका के जुलाई 1914 के अंक में तथा उसके पूर्व पूना के 'चित्रमय जगत्' मासिक पत्रिका में भी प्रकाशित हुआ है। इन प्रमाणों से गीता का काल शक चार-पाँच सौ से कम-से-कम दो सौ वर्ष पूर्व ही महाभारत के भीष्मपर्व में होना निश्चित होता है।

कालिदास से पूर्व भास के कर्णभारम् नाटक का एक श्लोक गीता के श्लोक से अक्षरशः मिलता है। कर्णभारम् का श्लोक है–**'हतो वा लभते स्वर्गं जित्वा तु लभते यशः'** (कर्णभार 1/12) यह श्लोक गीता के **'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्'** (गीता 2/7) इस श्लोक के समानार्थक है।

गृह्यसूत्रों के काल से पूर्व गीता लिखी जा चुकी थी। बौद्धायन गृह्य-सूत्र में उपलब्ध गीता का यह श्लोक इस तथ्य को पुष्ट करता है–

तदाह भगवान्।

बौ0 गृ0 सू0 2/22/9

इसी गृह्यसूत्र के तीसरे प्रश्न के अन्त में यह भी कहा गया है कि **'ऊँ नमो भगवते वासुदेवाय'** इस द्वादशाक्षर मन्त्र का जप करने से अश्वमेध का फल मिलता है। इससे यह सिद्ध होता है कि बौद्धायन के पूर्व गीता प्रचलित थी और वासुदेव पूजा भी सर्वमान्य समझी जाती थी। स्वयं महाभारत का एक श्लोक बौद्धायन सूत्रों में मिलता है। ब्यूहलर महोदय ने निश्चित किया है कि बौधायन का काल आपस्तम्ब के सौ-दौ-सौ वर्ष पूर्व होगा और आपस्तम्ब का काल ईसा के पूर्व तीन सौ वर्ष से कम हो नहीं सकता।

प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से लिखा है कि बुद्ध के समय वेद, वेदाङ्ग, व्याकरण, ज्योतिष, निघण्टु आदि वैदिक धर्मग्रन्थ प्रचलित हो गये थे।

बौद्ध धर्मानुयायी ने बौद्ध धर्मविषयक इतिहाससम्बन्धी जो ग्रन्थ तिब्बती भाषा में लिखा है, उसमें कहा है कि बौद्धों के पूर्वकालीन संन्यासमार्ग में महायान पंथ ने जो कर्मयोगविषयक सुधार किया था उसे महायान पथ के मुख्य पुरस्कर्ता नागार्जुन के गुरु राहुभद्र ने ज्ञानी श्रीकृष्ण और गणेश से जाना था। पश्चिमी पण्डितों का कहना है कि महायान पथ का पहला पुरस्कर्ता नागार्जुन शक के लगभग सौ-डेढ़-सौ वर्ष पूर्व हुआ होगा और इस पथ का बीजारोपण अशोक के राजशासन के समय में हुआ होगा। इससे सिद्ध होता है कि भगवद्गीता महायान बौद्ध पन्थ के जन्म से और अशोक से भी पूर्व अर्थात् सन् ईस्वी से लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व ही अस्तित्व में थी।

गीता पर जो संस्कृत टीकाएँ तथा भाष्य उपलब्ध हैं, उनमें शांकरभाष्य अत्यन्त प्राचीन है। श्रीशंकराचार्य ने महाभारत के सनत्सुजातीय प्रकरण पर भी भाष्य लिखा है और उनके ग्रन्थ में महाभारत के मनु-बृहस्पति-संवाद, शुकानुप्रश्न और अनुगीता में से बहुत से वचन अनेक स्थानों पर प्रमाणार्थ लिये गये हैं। इससे स्पष्ट होता है कि शंकराचार्य जी के समय में महाभारत और गीता दोनों ग्रन्थ प्रमाणभूत माने जाते थे। प्रोफेसर काशी नाथ पाठक ने एक साम्प्रदायिक श्लोक के आधार पर शंकराचार्य का जन्मकाल 845 विक्रम संवत् (शक 710) निश्चित किया है। गीता पर जो

शांकरभाष्य है उसमें पूर्व समय के अधिकांश टीकाकारों का उल्लेख किया गया है। श्रीशंकराचार्य ने कहा है कि इन टीकाकारों के मतों का खण्डन करके उन्होंने नवीन भाष्य लिखा है। अतः शंकराचार्य के जन्म से दो-तीन सौ वर्ष पूर्व ही गीता लगभग शक 400 ई0 तक प्रकाश में आ गई थी।

सत्य कहा जाय तो ये अन्तःसाक्ष्य भगवद्गीता का काल-निर्णय करने के लिये पर्याप्त नहीं हैं। केवल यह प्रयासमात्र है।

1.4. गीता का प्रतिपाद्य विषय

संस्कृतवाङ्मय में इतने शास्त्रीय ग्रन्थ हैं कि उनको पढ़ना और आत्मसात् करना किसी एक व्यक्ति के लिये सम्भव नहीं है। अत एव **'यत्सारभूतं तदुपासितव्यम्'** अर्थात् समस्त शास्त्रों का जो सार है उसको ही ग्रहण करना बुद्धिमानी है। गीता सर्वशास्त्रों का सारभूत है। अत एव एक गीता को पढ़ने से ही सब शास्त्रों के पाठ का फल मिल जाता है। जीवन क्या है? जीवन का लक्ष्य क्या है? जन्म क्या है? मृत्यु क्या है? आत्मा क्या है? प्रकृति क्या है? किस मार्ग का अवलम्बन करने से जीवन यथार्थ लक्ष्य की ओर अग्रसर हो सकता है? साधन के मार्ग में नाना प्रकार के विघ्न और उनको दूर करने का उपाय क्या है? भगवत्प्राप्ति और ज्ञानप्राप्ति की साधना क्या है? इत्यादि प्रश्नों के शिक्षासत्र की शिक्षा-दीक्षा भगवद्गीता में समाविष्ट है। इस शिक्षा की कथा ही श्रीकृष्णार्जुनसंवाद है। यही भगवद्गीता के नाम से सुपरिचित है। यह भगवद्गीता चिरकाल से मुमुक्षु साधकों के लिये कण्ठहार के रूप में सुशोभित हो रही है।

गीता के देवता श्रीकृष्ण

श्रीकृष्ण परमात्मा गीतामन्त्रमाला के देवता हैं। देवता को समझकर उसका चिन्तन नहीं किया गया तो मन्त्र चैतन्य न होगा। श्रीकृष्ण किसी के कल्पित देवता नहीं हैं। श्रीकृष्ण ब्रह्मवाचक शब्द है। अत एव श्रीकृष्ण परमात्मा के वाचक, परब्रह्म, स्वयं भगवान् हैं। मूढ लोग **'मानुषीतनुमाश्रितम्'** समझकर उनकी अवज्ञा करते हैं। श्रीकृष्ण शब्द से शास्त्रों में परब्रह्म परमात्मा का ही बोध होता है। कृष्ण शब्द **'कृष्'** धातु से बना है। 'कृष्' का अर्थ है आकर्षण करना। जीव को अपनी ओर खींच लेना ही उनका स्वभाव है। यह आनन्द जड पदार्थ या भावनामात्र नहीं है, यह नित्य चिन्मय रसस्वरूप में समस्त जीवों का जीवन है। कृष्ण शब्द की व्युत्पत्ति बतलाते हुए कहा गया है–

कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृत्तिवाचकः।

तयोरैक्यं परब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते।।

'कृष्' सत्तावाचक शब्द है और **'ण'** आनन्दवाचक शब्द। इन दोनों के संयोग से **'कृष्ण'** शब्द बनता है। जहाँ सत्ता है, वहीं आनन्द है। इन दोनों का ऐक्य ही परब्रह्म है और उसे ही 'कृष्ण' कहते हैं। वही श्रीकृष्ण गीता के परम देवता हैं।

गीता का 'बीज' मन्त्र

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।

गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥ भगवद्गीता 2/11

अर्थात् 'जिसके लिये शोक करना उचित नहीं, उनके लिये शोक करते हो और फिर पण्डितों के समान बातें करते हो'–गीता का यही बीज अर्थात् मूलमन्त्र है। गीता का आरम्भ ही 'अहं-मम' के नाश के लिये हुआ है।

गीता की 'शक्ति'

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। भगवद्गीता 18/66

सब प्रकार के धर्माधर्म की अनुष्ठानविधि की दासता का त्याग कर एकमात्र आत्मा के शरणापन्न हो जाओ–मालामन्त्र की यही शक्ति है। दूसरे शब्दों में आत्मशरणागति ही गीतामन्त्र की शक्ति है। यह शक्ति प्राप्त किये विना आत्मदर्शन नहीं होता और न कोई अभय प्राप्त कर सकता है।

गीता का 'कीलक' तत्त्व (आश्रयतत्त्व)

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः। भगवद्गीता 18/66

मेरे प्रति दृढ विश्वास रखने पर मैं तुम्हें सब पापों से मुक्त कर दूँगा, तुम शोक न करो– यह मन्त्रमाला का 'कीलक' अर्थात् आश्रयतत्त्व है। इस आश्रयतत्त्व को जाने विना जीव को शान्ति नहीं मिल सकती। शास्त्र में तीन प्रकार की शरणागति कही गई है–

1. वह मैं हूँ।

2. वह मेरे हैं।

3. उनका मैं हूँ।

'वह मैं हूँ'– यह प्रथम शरणागति है।' स्थावर-जङ्गमात्मक समस्त ब्रह्माण्ड अर्थात् मैं, तुम और सब वासुदेवरूप हैं। वह एक और अद्वितीय है, जिनकी यह धारणा दृढ है, वही प्रथम श्रेणी के शरणागत हैं।

'वह मेरे हैं'–यह द्वितीय शरणागति है। अर्थात् उनकी सत्ता मुझ से भिन्न नहीं है। मैं जहाँ हूँ,वह भी वहाँ हैं। उनसे बढ़कर मेरा निकटतर, मेरा प्रियबन्धु और कोई नहीं है।

'उनका मैं हूँ'-यह तृतीय शरणागति है। प्रह्लाद आदि भक्त इसी श्रेणी के थे। प्रभु के अपरिमित ऐश्वर्य को देखकर भक्त समझता है कि यद्यपि तत्त्वतः उनमें और मुझमें कोई भेद नहीं है, परन्तु उनके विराट् ऐश्वर्य को देखकर मन में आता है कि हम कितने क्षुद्र और तुच्छ हैं–यह इस अवस्था की ही शरणागति है।

श्रीकृष्णप्रीत्यर्थ 'पाठविनियोग'

भगवान् श्रीकृष्ण की प्रीति के लिये गीतापाठ किया जाता है। अत्यन्त श्रद्धा और भक्ति के साथ प्रतिदिन गीता का पाठ करना चाहिए। भगवान् कहते हैं–'**गीता मे हृदयं पार्थ**' अर्थात् गीता उनका हृदय है। अत एव गीता के भीतर प्रवेश करने पर श्रीभगवान् के हृदय में प्रवेश हो सकता है।

सर्वशास्त्रसारभूता विशुद्धा सा विशिष्यते।

गीता की अपेक्षा सारवस्तु और कुछ नहीं है। इससे विशुद्ध और कोई वस्तु नहीं हो सकती। गीता का पाठ करने से महापाप, अतिपाप भी समूल विध्वंस हो जाते हैं। गीता वस्तुतः सुगीता है, जिसका पाठ हृदय को झंकृत कर देता है। जिससे अपने निकेतन के निभृत कुञ्ज में नित्य विराजमान प्रभु की कृपावृष्टि होती है।

गीता मन्त्रमाला के जप का क्रम

जिस प्रकार एक अश्वत्थ बीज में अश्वत्थवृक्ष की सन्निहित शक्ति पोषण प्राप्तकर निरन्तर संवर्धन को प्राप्त होती है उसी प्रकार मन्त्रबीज में अलौकिक शक्तिसम्पन्न देवता निगूढ रहते हैं, जो शास्त्रोपदिष्ट विधि से प्रकट होते हैं। इसके लिये एकमात्र आत्मलक्ष्य की ओर अप्रमत्तभाव से तन्मय हो जाने की आवश्यकता है। आत्मा को लक्ष्य कर शरसंधान करते समय दूसरा लक्ष्य नहीं होना चाहिए। प्रणव मन्त्र है, प्रणव को धनुष बनाकर उसमें मनरूपी बाण को लगाना होगा (मन्त्र के तत्त्वार्थ का जपात्मक अभ्यास करना होगा), तभी मन ठीक परमात्मा में प्रविष्ट हो सकेगा। किन्तु ध्यान रहे कि मन्त्रार्थ, मन्त्रचैतन्य और योगनिद्रा को जाने विना मन्त्र का जप करने पर भी मन्त्रसिद्धि न होगी। वचन है–

मन्त्रार्थं मन्त्रचैतन्यं योनिमुद्रां न वेत्ति यः।

शतकोटिजपेनापि तस्य विद्या न सिद्ध्यति।।

आत्मतत्त्व की नित्यता का ध्यान करना चाहिये। वचन है–

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।। भगवद्गीता 2/23

परमानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण शरणागत के कल्पवृक्ष हैं। उनकी शरण में पहुँचकर भवभयखण्डन हो जाता है।

1.5 दार्शनिक चिन्तन

श्रीमद्भगवद्गीता का वैशिष्ट्य इसी से सर्वविदित है कि यह ईश्वरभक्तों की भक्तिभूमि, कर्मयोगियों की कर्मभूमि, ज्ञानियों की ज्ञानभूमि, साहित्यिकों की रसिकभूमि, सामाजिकों की वर्णाश्रमभूमि, आर्तों की हृदयभूमि, शिष्यों की गुरुभूमि, वैज्ञानिकों की कौतुकभूमि, आरोग्य की आरोग्योपायभूमि, उद्विग्नों की उद्वेगनाशभूमि, युयुत्सुओं की रागद्वेषराहित्यभूमि, सृष्टिवादियों की तत्त्वान्वेषणभूमि,

मनोवैज्ञानिकों की चिकित्साभूमि, शरणागतों की शरणागतिभूमि और दार्शनिकों की चिन्तनभूमि है। इस प्रकार सबकी जिज्ञासाओं को शान्त करने वाला यह महनीय ग्रन्थराज है। इसीलिये आचार्य शंकर गीता को दुर्विज्ञेयार्थ बतलाते हैं–

प्रसिद्धं हि गीताशास्त्रं समस्तवेदार्थसारसंग्रहभूतं दुर्विज्ञेयार्थम्।

चाहे आस्तिक दर्शन हो अथवा नास्तिक दर्शन चिन्तन के तीन प्रमुख विषय हैं। वे हैं–ब्रह्म, जीव और जगत्। दार्शनिकों ने अपनी-अपनी अपरोक्ष अनुभूतियों के आधार पर इन तीन विषयों को, अवान्तर विषयों के साथ, समायोजित करके विभिन्न दार्शनिक प्रस्थानों को प्रकल्पित किया। अतः भारतीय चिन्तन परम्परा में छह आस्तिक दर्शन तथा छह नास्तिक दर्शनों का प्रादुर्भाव हुआ। सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, वेदान्त-मीमांसा ये छह आस्तिक दर्शन तथा चार्वाक, जैन के साथ बौद्ध के माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक इन चार सम्प्रदायों को मिलाकर ये छह नास्तिक दर्शन विकसित हुए।

श्रीमद्भगवद्गीता में दर्शनशास्त्र के उन समस्त विषयों पर विचार किया गया है, जो इस ग्रन्थ को 'गीतादर्शन' के नाम से व्याख्यायित करते हैं। इसी श्रीकृष्णार्जुनसंवाद से दार्शनिक बिन्दु परिपोषित हुए हैं। भगवद्गीता कृष्ण-अर्जुन के पारिवारिक विचारों की संवेदनशील कथामात्र नहीं है अपितु दार्शनिक चिन्तन का यह सारभूत ग्रन्थराज है।

ब्रह्मविमर्श

ब्रह्मतत्त्व का प्रतिपादन गीता के भिन्न-भिन्न अध्यायों में हुआ है किन्तु गीता का अष्टम, तथा त्रयोदश अध्याय मुख्यरूप से ब्रह्मतत्त्व में पर्यवसित है। श्रीकृष्ण का उद्घोष है कि वे ही परम ब्रह्म हैं एवं इस जगत् के आदि कारण हैं–

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।

प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्।

भगवद्गीता 9/18

परब्रह्म ही वह ज्ञेय वस्तु है जो आदिरहित है। वह न सत् और न असद्रूप है। वह नित्य और एकरस है। वचन है–

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते।

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥

भगवद्गीता 13/12

टीकाकार शंकरानन्द सरस्वती भी यही प्रमाण प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि ब्रह्म सत् और असत् से भिन्न, उसके निषेध का अवधिभूत तथा नित्य, शुद्ध, सत्य, परमानन्द एवं अद्वितीय है।

गीता ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों रूपों का प्रतिपादन करते हुए दोनों के अभिन्नत्व की घोषणा करती है। ब्रह्म के दोनों रूपों की एकता का प्रतिपादक श्लोक है–

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।

असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च।

भगवद्गीता 13/14

चूँकि ब्रह्म हस्त, पाद आदि समस्त अचेतन कारणों को आत्मतत्त्व से युक्त करता है, इसलिये ब्रह्म सर्वतः पाणिपाद कहा गया है। क्योंकि अचेतन की समस्त प्रवृत्तियाँ चेतन के अधिष्ठानपूर्वक ही होती हैं। अतः गीता का वचन है–

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।

सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति।।

भगवद्गीता 13/13

गीता के दशम एवं एकादश अध्यायों में ब्रह्म के विश्वरूप का वर्णन मिलता है। वह चराचर समस्त भूतों से परिपूर्ण और चर-अचरस्वरूप भी वही है। वह विश्वेश्वर है तथा विश्वरूप है–

सर्वतोऽनन्तरूपं ...... पश्यामि विश्वेश्वर! विश्वरूप!।

भगवद्गीता 11/16

ब्रह्म के दो भाव

भगवद्गीता के अनुसार ब्रह्म के दो भाव हैं–अपरभाव तथा परभाव। ब्रह्म एक ही अंश से योगमाया से युक्त रहता है तथा उसी अंश से जगत् में अभिव्यक्त होता है। वह एक अंश से जगत् को व्याप्त करके स्थित है–

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।

भगवद्गीता 1/42 उत्तरार्द्ध

ब्रह्म के इसी रूप का नाम अपरभाव अथवा विश्वानुग रूप है। परन्तु अपने दूसरे रूप से वह केवल जगन्मात्र ही नहीं है, प्रत्युत ब्रह्म इसका अतिक्रमण करने वाला भी है। यह उसका वास्तविक रूप है। ब्रह्म के इसी अनुत्तम, अव्ययरूप को परभाव अर्थात् विश्वतिगरूप कहते हैं। गीता का वचन है–

परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्।

भगवद्गीता 7/24

प्रभु विश्व के घट-घट में व्याप्त हैं। विभूतिमत्, शोभायुक्त तथा ऊर्जित पदार्थों में भगवच्छक्ति का प्राकट्य समधिक दिखलाई पड़ता है। गीता का वचन है–

यद्यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।

तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्।

भगवद्गीता 10/41

गीता में ब्रह्मरूप ईश्वर की ये जो परा और अपरा दो प्रकृतियाँ कहीं गई हैं, ईश्वर केवल इन दो प्रकृतियों में ही सीमित नहीं है, वह उनसे उत्तम है। गीता में तीन पुरुषों का प्रतिपादन हुआ है। इनमें से जड प्रकृति को क्षरपुरुष, जीव को अक्षरपुरुष तथा परमेश्वर को उत्तमपुरुष कहा गया है।

जीवतत्त्व (आत्मतत्त्व) विमर्श

भगवद्गीता में आत्मतत्त्व का विशद विवेचन हुआ है। आत्मा के विषय में दर्शनशास्त्र तथा अन्यान्य शास्त्रों में नाना प्रकार के मतवाद प्रचलित हैं। वेदान्तदर्शन को छोड़कर सभी आस्तिक दार्शनिक आत्मा के अनेकत्व को स्वीकार करते हैं। वेदान्त ने आत्मा के एकत्व को स्वीकार किया है।

आत्मतत्त्व का विवेचन श्रीकृष्ण के उस उपदेश में निहित है, जिस समय श्रीकृष्ण मोह-माया से ग्रसित, कर्तव्यों से विरत, शोकाकुल अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त होने के लिये देते हैं। आत्मा का विवेचन गीता के अन्यान्य अध्यायों में भी मिलता है, किन्तु मुख्यरूप से द्वितीय अध्याय में इसका विशद उपपादन हुआ है।

गीता के अनुसार आत्मा देह से अतिरिक्त है। अतः देह में जैसे विकार उत्पन्न होते हैं वैसे आत्मा में नहीं होते। आत्मा षड्विकारों से वर्जित है। वचन है–

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

भगवद्गीता 2/20

आत्मा में जन्म, मृत्यु, वृद्धि, क्षय आदि षड्विकार नहीं होते हैं। वह अजन्मा, सदा, एकरूप, शाश्वत और परिणामविहीन है। शरीर के विनाश से वह मरता नहीं है।

आत्मा में किसी प्रकार का कर्तृत्व-भोक्तृत्व भी नहीं है। वचन है–

अनादित्वात् निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः।

शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥

भगवद्गीता 13/31

संसारावस्था में देहसम्बन्ध के कारण कर्मजनित सुख-दुःखादि भी आत्मा को नहीं होते हैं। जिसकी उत्पत्ति होती है, उसी का आदि होता है तथा जो गुणवान् है उसी का गुणनाश होने पर रूपान्तर होता है। परन्तु जन्म-मृत्यु-रहित और निर्गुण यह आत्मा अविकारी है। अत एव देह में रहते हुए भी यह कुछ नहीं करता, न कर्मफल में ही लिप्त होता है। आत्मा केवल साक्षीमात्र है, अनुमन्ता अर्थात् सन्निधिमात्र से अनुग्राहक है। आत्मा की सत्ता के विना देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि की स्फूर्ति अर्थात् पुष्टि नहीं होती है, इसी कारण वह भर्ता है। बुद्धि में प्रतिबिम्बित सुख-दुःख आदि का भोक्ता है।

वचन है–

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।

परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः॥

भवगद्गीता 13/22

जगत्-विमर्श

जिस प्रकार बीज से वृक्ष उत्पन्न होता है और अन्त में बीज में ही विलीन हो जाता है। उसी प्रकार यह जगत् भगवान् से उत्पन्न होता है तथा फिर उन्हीं में लीन हो जाता है। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय भगवान् के कारण है। अतः गीता के अनुसार भगवान् सब भूतों का सनातन अविनाशी बीज है–

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।

भगवद्गीता 7/10 पूर्वार्द्ध

गीता के अनुसार प्रकृति का अध्यक्ष ईश्वर है। उसी की अध्यक्षता में प्रकृति जगत् को उत्पन्न करती है, अन्यथा अचेतन जडात्मिका प्रकृति में इतना सामर्थ्य कहाँ से आता? श्रीकृष्ण का वचन है–

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

हेतुनानेन कौन्तेय जगद् विपरिवर्तते।

भगवद्गीता 9/10

इस प्रकार ब्रह्म, जीव और जगत् दर्शनशास्त्र के तीन प्रधान बिन्दु हैं।

द्वितीय इकाई- जीवन शैली एवं आचार संहिता

इकाई की रूपरेखा

2.1 जीवन-शैली एवं आचार संहिता

2.2 भगवद्गीता का सन्देश

2.3 विषय-प्रतिपादन-शैली

2.4 भगवद्गीता पर लिखित संस्कृत टीकाएँ

2.5 द्वितीय अध्याय : सांख्ययोग का विषयसार

2.6 तृतीय अध्याय : कर्मयोग का विषयसार

2.1 जीवन-शैली एवं आचार संहिता

गीता का अध्यात्मपक्ष जितना युक्तियुक्त एवं समन्वयात्मक है, उसका व्यवहार पक्ष भी उतना ही प्रयोगात्मक। मानव की आचार-संहिता ज्ञान-कर्म-भक्ति से समन्वित होकर एक आदर्शपूर्ण जीवन-शैली को प्रभावित करती है। ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग और भक्तिमार्ग, ये तीन मार्ग जीव के कल्याण के लिये श्रीकृष्ण ने बतलाये हैं। ये तीनों मार्ग पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं किन्तु तात्त्विक दृष्टि से ये तीनों संवलित रूप में अनुकरणीय हैं। अपने अधिकार (योग्यता) के अनुसार किसी एक मार्ग का अनुसरण (प्रयोग, अभ्यास) करने पर अन्य दो मार्ग भी परिपुष्ट होते हैं। ये त्रिभाग मिलकर जीवनरूपी वेणी का निर्माण करते हैं। त्रिगुण के समान त्रिमार्ग को पृथक् नहीं देखा जा सकता है।

ज्ञानयोग

सभी लोगों का ज्ञान में अधिकार नहीं होता, क्योंकि वैराग्य के विना कोई ज्ञानमार्ग का अधिकारी नहीं बनता। विषयों के प्रति वैराग्य बहुत कम लोगों में देखा जाता है। और चित्त में वैराग्य हुए विना ज्ञान का उदय होना सम्भव नहीं है। भगवान् ने गीता में कहा है–

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्।।

भगवद्गीता 5/16

भगवद्विषयक ज्ञान के द्वारा जिनका वैषम्यजनित अज्ञान नष्ट हो गया है, उनका वह आत्मज्ञान अज्ञान को नष्ट कर ईश्वर के परिपूर्ण स्वरूप को उसी प्रकार प्रकाशित करता है, जिस प्रकार आदित्य अन्धकार का नाश कर निखिल जागतिक वस्तुओं को प्रकाशित करता है। आगे कहा है–

तद्बुद्ध्यस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।

गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥

भगवद्गीता 5/17

अर्थात् उनमें ही जिनकी बुद्धि निश्चयात्मिका हो गई है, उनमें ही जिनका आत्मभाव है अर्थात् मन लीन है, उनमें ही जिनकी निष्ठा है अर्थात् प्रयत्न हो रहा है, वह ही जिनके परम आश्रय हैं तथा उनकी कृपा से प्राप्त हुए आत्मज्ञान के द्वारा जिनके पाप धुल गये हैं, वे ही अपुनरावृत्ति अर्थात् मुक्ति प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार के ब्रह्मविद् ज्ञानी पुरुष का लक्षण बतलाते हुए भगवान् कृष्ण कहते हैं–

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।

स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥

भगवद्गीता 5/20

अर्थात् जो ब्रह्मवेत्ता होकर ब्रह्म में अवस्थित हैं, वे प्रिय वस्तु को प्राप्त कर हर्षित नहीं होते और न अप्रिय वस्तु को प्राप्त कर उद्विग्न ही होते हैं, क्योंकि वे असंमूढ हैं अर्थात् उनका मोह निवृत्त हो गया है तथा उनकी बुद्धि स्थिर है। स्थिर बुद्धि हुए विना ज्ञान की प्राप्ति असम्भव है।

भक्तियोग

ज्ञानस्वरूप परमात्मा को प्राप्त करने के लिये हृदय में जो ऐकान्तिक अनुराग उत्पन्न होता है, वही द्वितीय मार्ग है, जिसे भक्तियोग कहते हैं। जो पुरुष अत्यन्त विरक्त नहीं हैं और न ही अत्यन्त आसक्त हैं, उनके लिये भक्तियोग सिद्धिप्रद है। इस भक्तियोग के द्वारा ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। वचन है–

न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः।

श्रीमद्भागवत में भी कहा गया है कि वासुदेव में भक्तियोग का प्रयोग करने पर शीघ्र वैराग्य उत्पन्न होता है तथा उसके पश्चात् अपने आप ही ज्ञान उदित होता है–

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।

जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानञ्च यदहैतुकम्॥

कर्मयोग

जिसमें विवेक-वैराग्य नहीं है और यथार्थ भक्ति भी नहीं है, किन्तु भगवान् को प्राप्त करना चाहता है, ऐसे साधकों के लिये कर्मयोग का मार्ग प्रशस्त हुआ है। कर्मयोग का बहुत ही सुन्दर वर्णन भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय में किया गया है–

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि। भगवद्गीता 2/47

इसमें चार तथ्य निहित हैं–

1. मनुष्य को कर्म करने का अधिकार है (अनिवार्यता)

2. फल के ऊपर कर्ता का अधिकार नहीं है (सीमितता)

3. कर्म न करने की ओर रुचि न होनी चाहिए (कर्मवादिता)

4. फल की आकांक्षा को मन में धारण नहीं करना चाहिए (लोकहितवादिता)

प्रश्न है कि यदि सभी कर्मों का फल परमेश्वर की आराधना के द्वारा ही प्राप्त होता है तो कृत कर्मों का क्या प्रयोजन है? गीता के टीकाकार श्रीधरस्वामी का समाधानपक्ष यह है कि मनुष्य तत्त्वज्ञानार्थी बने, उसका कर्म में ही अधिकार है। कर्मफल की कामना नहीं होनी चाहिए। अर्थात् कर्तृत्व के अभिमान से शून्य होकर और फल की अपेक्षा से रहित होकर कर्म करना चाहिए। इस प्रकार साधारण कर्मवाद को कर्मयोग **'योगः कर्मसु कौशलम्'** में परिवर्तित करने के लिये तीन सोपानों की आवश्यकता है–फलाकांक्षा का वर्जन, कर्तृत्व के अभिमान का त्याग तथा ईश्वरार्पण। गीता का उपदेश है कि मानव का कर्म करने में अधिकार है, फल में कभी नहीं है। ध्यान रहे कि अकर्म अर्थात् कर्म के न करने में इच्छा नहीं होनी चाहिए। गीता के उपर्युक्त **'कर्मण्येवाधिकारस्ते'** द्वारा प्रतिपादित कर्मयोग का यही मूलमन्त्र है। इस श्लोक के चारों पादों को हम कर्मयोग की चतुःसूत्री कह सकते हैं। इसी कारण सर्व कर्मों के फल का त्याग ही वस्तुतः संन्यास है। गीता का वचन है–

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।

सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः।।

भगवद्गीता 18/2

गीता में कर्म के तीन भेद किये हैं–कर्म, विकर्म तथा अकर्म। साधारणतया विद्वज्जन इनका स्वरूप यही समझते हैं कि इस लोक अथवा परलोक में जिसका फल सुखदायी हो, उस उत्तम क्रिया का नाम 'कर्म' है। जिसका फल इस लोक अथवा परलोक में दुःखदायी हो, उसका नाम 'विकर्म' है और जो कर्म अथवा कर्मत्याग किसी फल की उत्पत्ति का कारण नहीं होता, वह 'अकर्म' है।

वस्तुतस्तु कर्म की गति दुर्ज्ञेय है। कर्ता के भावों के अनुसार कोई भी क्रिया कर्म, विकर्म तथा अकर्म के रूप में परिणत हो सकती है। जो बुद्धिमान् व्यक्ति कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखता है, वह बुद्धिमान् है–

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।

स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।।

भगवद्गीता 4/18

कोई भी मनुष्य किसी भी काल में क्षणभर के लिये भी कर्म किये विना नहीं रह सकता है, क्योंकि मनुष्य प्रकृतिजन्य गुणों के वशीभूत होकर कर्म करने के लिये बाध्य रहता है–

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।

भगवद्गीता 3/5

श्रीमद्भगवद्गीता उस महाभारत का हृदय है, जो वस्तुतः राजनीतिप्रधान है, फिर राजनीति के क्षेत्र में भी निष्काम कर्मयोग का महत्त्व कम नहीं है। ज्ञान-कर्म-भक्ति का समन्वित मधुर फल भगवद्गीता है। गीता द्वारा प्रतिपादित यही जीवन-शैली अध्येता को उच्च आचार-संहिता में प्रतिष्ठित करती है।

2.2 भगवद्गीता का सन्देश

गीता का अध्यात्मपक्ष जितना युक्तियुक्त तथा समन्वयात्मक है उसका व्यवहारपक्ष भी उतना ही मनोरम तथा आदरणीय है। व्यक्ति तथा समाज के सर्वाङ्गीण विकास के लिये वर्ण और आश्रम धर्म का पालन आवश्यक है। वर्णाश्रम धर्म का पालन करके ही व्यक्ति अपनी और समाज की प्रगति में योगदान कर सकता है, क्योंकि वर्णधर्म के पालन से समाज के विभिन्न समूहों में व्याप्त अनावश्यक प्रतिस्पर्द्धा समाप्त हो जाती है। चातुर्वण्यव्यवस्था कर्माधारित है न कि जन्मना। भगवान् श्रीकृष्ण का स्पष्ट उद्घोष है–

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्।।

भगवद्गीता 4/13

भगवान् कृष्ण का स्पष्ट सन्देश है कि मैंने गुण और कर्म के आधार पर चारों वर्णों की सृष्टि की है। गीता के वर्णनिर्धारण में गुण को विशेष महत्त्व दिया गया है। गुण के तीन भेद हैं– सत्त्व, रजस् तथा तमस्। ये तीनों क्रमशः सुख-दुःख-मोह के जनक हैं। पृथ्वी में रहने वाला कोई भी ऐसा प्राणी नहीं है, जो इन तीनों गुणों से रहित हो। गीता का वचन है–

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।

सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः।।

भगवद्गीता 18/40

इस प्रकार चातुर्वण्य व्यवस्था का गुणजनित यह मनोनैतिक आधार गीता का प्रमुख सन्देश है। गीता के उपदेश का यह मेरुदण्ड है तथा सामाजिक व्यवस्था का मूलाधार है।

2.3 विषय-प्रतिपादन-शैली

भगवद्गीता की विषय-प्रतिपादन-शैली उपनिषद् साहित्य से साम्य रखती है। अर्जुन शंकाकर्ता के प्रतीक हैं तो श्रीकृष्ण समाधानकर्ता के। शंका-समाधान की शैली से विषय का उपपादन

सरल और स्पष्ट बन पडा है और शास्त्रीय नीरसता समाप्त हुई है। गीता में सभी उपनिषदों का सारतत्त्व निहित है। इसमें ईश, केन, कठ, छान्दोग्य, बृहदारण्यक आदि प्रमुख उपनिषदों से भाषा एवं भाव ग्रहण किये गये हैं किन्तु सभी पर मौलिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए श्रीकृष्ण ने गीता को ग्रन्थशिरोमणि बना दिया है।

2.4 भगवद्गीता पर लिखित संस्कृत टीकाएँ

बौद्धधर्म के पश्चात् वैदिक धर्म के जो सम्प्रदाय भारत में प्रचलित हुए, उनमें से प्रत्येक सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्यों ने प्रस्थानत्रयी अर्थात् उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखकर अपने-अपने मतों को परिपुष्ट किया है। आचार्यों ने अपने-अपने सम्प्रदाय की पुष्टि के लिये गीता के नीति-निर्देशों के अनुसार अपने मतों का अनुसरण कर जिस नवनीत को प्रस्तुत किया है, वह वस्तुतः बहुमूल्य है। गीता पर अनेक विद्वानों ने संस्कृत टीकाएँ एवं व्याख्याएँ लिखी हैं। जितनी टीकाएँ अद्वैतसम्प्रदाय के आचार्यों द्वारा लिखी गई हैं उतनी और किसी अन्य सम्प्रदाय के टीकाकारों द्वारा नहीं लिखी गईं। गीता पर लिखी गईं प्रमुख संस्कृत टीकाओं और उनके टीकाकारों के नाम इस प्रकार हैं–

1. शंकराचार्यकृत – गीताभाष्य
2. मधुसूदनसरस्वतीकृत – गीताव्याख्या
3. शंकरानन्दसरस्वतीविरचित – गीता तात्पर्यबोधिनी
4. श्रीधरस्वामिविरचित – सुबोधिनी
5. रामानुजाचार्यकृत – गीताभाष्य
6. मध्वाचार्यविरचित – भगवद्गीता - तात्पर्यनिर्णय
7. वल्लभाचार्यकृत – तत्त्वदीपिका
8. काश्मीरिभट्टाचार्यरचित – तत्त्वप्रकाशिका
9. अभिनवगुप्तविरचित – गीतार्थसंग्रह

इन संस्कृत टीकाओं के अतिरिक्त मराठी भाषा में लिखित सन्त ज्ञानेश्वर की ज्ञानेश्वरी टीका, बालगङ्गाधरतिलक का गीतारहस्य तथा महात्मा गाँधी का अनासक्तियोग प्रमुख है।

सभी सम्प्रदायों में शंकराचार्यकृत गीताभाष्य अतिप्राचीन माना जाता है और तत्त्वज्ञान की दृष्टि से सबसे अधिक मान्य भी है। गीता का सार ज्ञान-भक्तियुक्त कर्मयोग ही है किन्तु आचार्य शंकर ने कर्मयोग और ज्ञानयोग को गौण साधन माना है और सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक ज्ञान के द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति को बतलाया है। शंकराचार्य के पश्चात् अद्वैतसम्प्रदाय के अनुयायी मधुसूदनसरस्वती और श्रीधरस्वामी ने भी भक्तियोग के द्वारा मोक्षप्राप्ति का समर्थन किया है। मधुसूदनसरस्वती का यह विशेष वक्तव्य है कि योगसूत्रों और भाष्य के शब्दों से गीता के वाक्यों का सामानाधिकरण्य एवं उपनिषद्

के वाक्यों की समानता यथासम्भव दिखलाई पड़ती है। गीता के संस्कृत टीकाकार शंकरानन्दसरस्वती ने ज्ञान की महत्ता पर विशेष बल दिया है। शंकराचार्य के निर्गुण ब्रह्मवादी दर्शन के विरुद्ध हुई प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप लगभग ढाई सौ वर्ष पश्चात् रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद का उदय हुआ। भगवद्गीता पर द्वैत और द्वैताद्वैत के भी अनेक प्राचीन भाष्य और टीकाग्रन्थ हैं। इन समस्त व्याख्याताओं ने स्वमत के अनुसार गीता के मर्म को समझने की चेष्टा की है।

2.5 द्वितीय अध्याय : सांख्ययोग का विषयसार

भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय की पुष्पिका में लिखा है–

'ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः।' गीता के प्रथम विषादयोग के पश्चात् इस द्वितीय अध्याय में श्रीकृष्ण अर्जुन को विशिष्ट ज्ञानदृष्टि प्रदान करते हैं, अतः इस द्वितीय अध्याय का 'सांख्ययोग' नामकरण पड़ा है। इस अध्याय में अर्जुन की कायरता के विषय में श्रीकृष्णार्जुनसंवाद (1-10), सांख्ययोग का विषय (11-30), क्षात्र धर्म के अनुसार युद्ध करने की आवश्यकता का निरूपण (31-38), निष्काम कर्मयोग का विषय (34-53), स्थिरबुद्धि पुरुष के लक्षण और उसकी महिमा (54-72) का उपपादन हुआ है।

इस विषय में तृतीय अध्याय का तृतीय श्लोक द्रष्टव्य है–

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।

ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।।

भगवद्गीता 3/3

उक्त वचन से सुस्पष्ट है कि 'सांख्य' शब्द ज्ञान का वाचक है। इस प्रकार विशिष्ट ज्ञान के प्रतिपादक द्वितीय अध्याय को 'सांख्ययोग' के नाम से अभिहित किया गया। गीता के द्वितीय अध्याय में समस्त गीता का सार निहित है। इसी अध्याय से ज्ञान-कर्म-भक्ति की त्रिवेणी प्रवाहित होती है जो अपनी सम्बन्धित धाराओं से सम्मिलित हो भगवद्गीतारूपी गंगासागर में विलीन होती है।

आत्मा की नित्यता के प्रतिपादन से 'सांख्ययोग' के अन्तर्गत ज्ञानयोग का प्रारम्भ होता है। दर्शन के मूल सिद्धान्त का स्मरण कराते हुए श्रीकृष्ण अर्जुन को सत्-असत् का विवेक कराते हुए कहते हैं–

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।।

भगवद्गीता 2/16

हे अर्जुन ! जो नित्य है उसकी न तो उत्पत्ति होती है और न नाश। यही उसकी शाश्वतता और पुराणता का रहस्य है। शरीरगत बाह्य आक्रमणों से वह आत्मतत्व प्रभावित नहीं होता है।

एकरूपता ही उसका स्वरूप है

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।

भगवद्गीता 2/20

भगवद्गीता में आत्मज्ञानी को 'स्थितप्रज्ञ' कहा गया है। अर्जुन ने श्रीकृष्ण से प्रश्न किया–

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।

स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्।।

भगवद्गीता 2/54

अर्जुन की जिज्ञासा शान्त करने के लिये श्रीकृष्ण 'स्थितप्रज्ञ' का लक्षण बतलाते हैं–

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।

आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।।

भगवद्गीता 2/55

अर्थात् जो दुःखों से उद्वेगरहित रहता है, सुखों के प्राप्त होने की इच्छा नहीं करता है, सर्वत्र आत्मस्वरूप देखने के कारण राग, भय, क्रोध से परे होता है, उस मुनि को स्थितप्रज्ञ (स्थितधी) कहते हैं। यह तभी सम्भव है जब साधक आत्मा से ऐक्य स्थापित कर ले।

जैसे कच्छप अपने सब अंगों को समेटकर अपनी पीठ के नीचे कर लेता है, वैसे ही ज्ञाननिष्ठा में प्रवृत्त योगी अपनी इन्द्रियों को उनके विषयों से जब समेट लेता है, तब उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित होती है–

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।

भगवद्गीता 2/58

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को स्थितप्रज्ञ का लक्षण विस्तारपूर्वक समझाया। अध्याय की समाप्ति पर श्रीकृष्ण ने इस अवस्था को साधक की 'ब्राह्मी स्थिति' से इंगित किया–

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।

स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति।।

भगवद्गीता 2/72

अभिप्राय यह है कि हे अर्जुन! यही 'ब्राह्मी स्थिति' है, इसको पाकर मुमुक्षु मोह (भेदभाव) को नहीं प्राप्त करता। अन्त समय में भी क्षणभर भी इस अवस्था में रहकर पुरुष ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है अर्थात् मुक्त हो जाता है।

श्रीकृष्ण ने बारहवें अध्याय में 'स्थितप्रज्ञ' को 'स्वप्रियभक्त' की संज्ञा प्रदान की है–

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।

मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

भगवद्गीता 12/14

चतुर्दश अध्याय में 'स्थितप्रज्ञ' को गुणातीत से उपपादित किया गया है–

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।

सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥

भगवद्गीता 14/25

हे अर्जुन! जो मान-अपमान में सम है, मित्र-वैरी पक्ष में सम है, सम्पूर्ण आरम्भों के कर्तृत्वाभिमान से रहित है, वह (स्थितप्रज्ञ) पुरुष गुणातीत कहा जाता है।

2.6 तृतीय अध्याय : कर्मयोग का विषयसार

भगवद्गीता के तृतीय अध्याय की पुष्पिका में लिखा है–

ऊँ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः।

इससे सिद्ध है कि गीता का तृतीय अध्याय 'कर्मयोग' के नाम से समर्पित है। इसमें ज्ञानयोग और निष्काम कर्मयोग के अनुसार अनासक्तभाव से नियत कर्म करने की श्रेष्ठता का निरूपण (1-8), यज्ञादि कर्म करने की आवश्यकता का निरूपण (9-16), ज्ञानवान् और भगवान् के लिये भी लोकसंग्रहार्थ कर्म करने की आवश्यकता (17-24), अज्ञानी और ज्ञानवान् के लक्षण तथा राग-द्वेष से रहित होकर कर्म करने के लिये प्रेरणा (25-35) तथा काम के निरोध का विषय (36-43) मुख्यरूप से विवेचित है।

मीमांसक ज्ञानकाण्ड की अपेक्षा कर्म को ही मोक्षदायक मानते हैं। यज्ञादि वैदिक कर्मकाण्ड से स्वर्ग की प्राप्ति होती है किन्तु स्वर्गरूप फल की कामना से किये गये कर्म बन्धन में डालते हैं। अतः गीता निष्काम कर्म करने का उपदेश देती है। श्रीकृष्ण का वचन है–

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥

भगवद्गीता 3/4

गीता के अनुसार ज्ञानयोग की अपेक्षा कर्मयोग हीन है और जो फल की आशा रखकर कर्म करते हैं वे कृपण हैं।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।

बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥ भगवद्गीता 2/49

तृतीय इकाई (द्वितीय अध्याय 1-36 श्लोक)

वाचन तथा व्याख्या

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।

विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः॥1॥

सन्दर्भ–प्रस्तुत श्लोक श्रीमद्भगवद्गीता से लिया गया है। संजय धृतराष्ट्र से अर्जुन के विषाद का वर्णन कर रहे हैं।

अन्वय–संजय उवाच–मधुसूदनः तथा कृपया आविष्टम् अश्रुपूर्णाकुलेक्षणं विषीदन्तं तम् इदम् वाक्यम् उवाच।।1।।

पदार्थ–संजय उवाच = संजय बोले–मधुसूदनः = श्रीकृष्ण ने, कृपया आविष्टं = दया आदि गुणों से युक्त, अश्रुपूर्णाकुलेक्षणं = अश्रुपूरित नेत्र वाले, विषीदन्तं = विषादयुक्त, तं = उस अर्जुन को, इदं = यह, वाक्यं = वचन, उवाच = कहा ।।1।।

व्याख्या–धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में पाण्डव और कौरव दोनों की सेनाएँ आमने-सामने खड़ी हैं। परस्पर युद्ध की विषम स्थिति में अर्जुन शोकाकुल हैं। उनके हृदय की व्यथा अश्रुपूरित नेत्र बतला रहे हैं। अतः पाण्डवों के सारथि श्रीकृष्ण का अर्जुन के प्रति जो उद्बोधन है, उसकी सूचना संजय धृतराष्ट्र को दे रहे हैं।।1।।

विशेष

1. '**संजय**' मन की सम्यग्दृष्टि का प्रतीक है और '**धृतराष्ट्र**' अहंकाररूपी मन का प्रतीक है। इतिहास की दृष्टि से महाभारत की अमर व्यक्तिरेखाओं में से एक धृतराष्ट्र दुर्योधन, दुःशासन आदि सौ कौरवों के जन्मान्ध पिता हैं। उनके सचिव संजय दिव्य दृष्टि द्वारा युद्ध का देखा हुआ समाचार धृतराष्ट्र को सुनाते हैं और इस प्रकार भगवद्गीता का सूत्रपात होता है।

2. '**मधु**' नामक असुर के हन्ता होने से श्रीकृष्ण '**मधुसूदन**' कहे जाते हैं। 'मधु' रूप अहंकार को आत्मप्रकाश से नष्ट करने वाले होने से भी श्रीकृष्ण को '**मधुसूदन**' कहते हैं।

सब देहों में मधु के समान इष्ट होने से '**अहंकार**' मधु का वाच्य है। प्रभुकृपा से ही मनुष्य में निहित अहंकार विगलित होता है, ऐसे अहंकारनाशक प्रभु '**मधुसूदन**' नाम से अभिहित हैं।

3. श्लोक में जो '**कृपयाविष्ट**' कहा गया है, वह यह सूचन करने के लिये है कि मोक्षार्थ को कृपा आदि आठ आत्मगुणों से युक्त होना चाहिए।

सब भूतों में दया, क्षान्ति (सहनशीलता), अनसूया (दोषदृष्टि न करना), शुचि, अनायास मांगल्य, अकार्पण्य तथा अस्पृहा ये आठ आत्मा के गुण हैं।

4. **'विषीदन्तम्'** पद के द्वारा अर्जुन की आत्मग्लानि को इंगित किया है, जो आत्मीय जनों की हत्या के कारण उत्पन्न हुई है।

5. **'अश्रुपूर्णाकुलेश्रणम्'** पद से यह सूचित किया है कि अर्जुन ने प्रभु के समक्ष अपने को पूर्णरूप से समर्पित कर दिया है। प्रभु की शरणागति को स्वीकार कर वह आत्मोत्थान के लिये अधीर हो गया है।।1।।

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।

अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन! ॥2॥

सन्दर्भ–प्रस्तुत श्लोक में श्रीकृष्ण विषादयुक्त अर्जुन के प्रति उपदेश कर रहे हैं।

अन्वय–श्रीभगवान् उवाच–अर्जुन! विषमे कुतः इदम् अनार्यजुष्टम् अस्वर्ग्यम् अकीर्तिकरं कश्मलं त्वा समुपस्थितम्?।।2।।

पदार्थ–श्रीभगवान् उवाच = श्रीभगवान् बोले–अर्जुन = हे अर्जुन!, विषमे = इस संकटकाल में, कुतः = कहाँ से, इदम् = यह, अनार्यजुष्टम् = मूर्ख द्वारा आचरित, अस्वर्ग्यम् = स्वर्गविरोधी, अकीर्तिकरम् = कीर्तिनाशक, कश्मलम् = मोह, त्वा = तुम्हें, समुपस्थितम् = व्याप्त हो गया है।।2।।

व्याख्या–श्रीकृष्ण का अर्जुन के प्रति प्रश्न है कि हे अर्जुन! जब कि शत्रु शस्त्रों द्वारा मारने की तैयारी कर रहे हैं, ऐसे विषम संकटकाल में तुम्हारे चित्त में ऐसा व्यामोह (भ्रम) कहाँ से उत्पन्न हुआ कि 'मैं इनको मारना नहीं चाहता'? तात्पर्य यह है कि तुम जैसे विवेकी पुरुष में यह भ्रमबुद्धि असमीचीन है। ऐसा आचरण तो आर्यशिक्षा से रहित पामर पुरुष करते हैं, जिन्हें न स्वर्ग की प्राप्ति होती है और न उज्ज्वल कीर्ति के वे भागी बनते हैं।।2।।

विशेष–

1. इन्द्र द्वारा कुन्ती से उत्पन्न तृतीय पाण्डव अपने कार्यों में पवित्र और विशुद्ध होने के कारण **'अर्जुन'** कहलाया।

2. **'अर्जुन'** शब्द उज्ज्वल एवं श्वेतवर्ण का भी वाचक है।

3. **'अर्जुन'** जठराग्नि का प्रतीक है जिससे समस्त मल दग्ध हो जाते हैं। अतः श्रीकृष्ण ने इस पाण्डव को सर्वप्रथम अर्जुन नाम से सम्बोधित किया।।2।।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।

क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥3॥

सन्दर्भ–प्रस्तुत श्लोक में श्रीकृष्ण अर्जुन के कायरतापूर्ण विषाद की निन्दा करते हुए उसे युद्ध के लिये ललकारते हैं।

अन्वय–पार्थ! क्लैब्यं मा स्म गमः। एतत् त्वयि न उपपद्यते। परंतप! क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वा उत्तिष्ठ।।3।।

पदार्थ–पार्थ! = हे अर्जुन, क्लैब्यम् = कातरता को, मास्म गमः = मत प्राप्त करो। एतत् = ऐसी मनोदशा, त्वयि = तुममें, न उपपद्यते = उचित नहीं जान पड़ती है। परंतप! = हे शत्रुतापन!, क्षुद्रम् = तुच्छ, हृदयदौर्बल्यम् = हृद्‌गत मोह अर्थात् दुर्बलता को, त्यक्त्वा = त्यागकर, उत्तिष्ठ = युद्ध के लिये खड़े हो जाओ।।3।।

व्याख्या–अर्जुन की मानसिक दुर्बलता (**गाण्डीवं स्त्रंसते** 1/30) तथा रणभूमि से पराङ्मुखता (**न काङ्क्षे राज्यं** 1/32) देखकर श्रीकृष्ण एक विशुद्ध मनोचिकित्सक की तरह अर्जुन को कर्तव्यबोध कराते हैं और उन्हें युद्ध के लिये सन्नद्ध करते हैं। शारीरिक नपुसंकता और मानसिक दुर्बलता दूषण हैं न कि भूषण। अतः हे अर्जुन! अपने क्षत्रिय धर्म का स्मरण कर सामान्य स्थिति को प्राप्त हो। तुम पराङ्मुखता नहीं युद्ध का बिगुल बजाओ।।3।।

विशेष–

1.**'पार्थ'** अर्जुन का मातृकुलसूचक नाम है। यह कुन्ती के तृतीय पुत्र थे। आगे चलकर श्रीकृष्ण पार्थसारथि कहलाये।

2. 'हे अर्जुन! विषय-चिन्तन और विषयभोग ही मनुष्य के शत्रु हैं। इनका परित्याग कर मेरी शरण में आओ। क्लीबभाव राजधर्म का विरोधी है। इस प्रकार **'क्लैब्यं'** पद के प्रयोग द्वारा श्रीकृष्ण ने अर्जुन को शूरवीर के प्राथमिक दोषनिवारण को उद्‌घाटित किया है।

3. **'परन्तप'** उद्‌बोधन समरभूमि में उत्साहवर्धन के लिये सटीक है। हे अर्जुन तुम शत्रुकर्षक हो। बाह्य शत्रु और आन्तरिक शत्रु कामादि मनोवेग को कैसे शान्त किया जाय, इसमें तुम दक्ष हो यह प्रदर्शित करने के लिये श्रीकृष्ण ने **'परन्तप'** विशेषण से अर्जुन को सम्बोधित किया।।3।।

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणञ्च मधुसूदन।

इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन॥4॥

सन्दर्भ–युद्धसन्नद्धता के लिये अर्जुन के प्रति श्रीकृष्ण की युक्तियाँ, जो पूर्व श्लोक में संकेतित हैं, निष्प्रभावी रहीं, अतः अपने कथित अभिप्राय का दृढ़ीकरण करते हुए अर्जुन पुनः कहते हैं।

अन्वय–अर्जुन उवाच–अरिसूदन! मधुसूदन! अहं संख्ये पूजार्हौ भीष्मं द्रोणं च इषुभिः कथं प्रतियोत्स्यामि।।4।।

पदार्थ–अर्जुन उवाच = अर्जुन बोले–अरिसूदन! मधुसूदन! = हे शत्रुतापक भगवान्!, अहम् = मैं अर्जुन, संख्ये = युद्ध में, पूजार्हौ = पूजा के योग्य भीष्मम् = भीष्म, च = एवं, द्रोणम् = द्रोण के साथ, इषुभिः = बाणों के द्वारा, कथम् = किस प्रकार, प्रतियोत्स्यामि = प्रतियुद्ध कर सकूँगा।।4।।

व्याख्या–हे अरिसूदन! भीष्म और द्रोण घर में पिता के समान पुष्पों से पूजने योग्य हैं।

अतः जब वाणी से भी वे युद्ध करने योग्य नहीं है, तब मर्मघाती बाणों से युद्ध करने योग्य कैसे हो सकते हैं? इसलिये युद्धस्थल में बाणों से उन दोनों के मर्मस्थानों का छेदन मैं कैसे कर सकूँगा? ऐसा करना मेरे लिये सम्भव नहीं है।।4।।

विशेष–

1. **अरिसूदन', 'मधुसूदन'**–भक्तों के काम आदि शत्रुओं को जो नष्ट करता है, वह अरिसूदन कहलता है। मधुसूदन अरिसूदन का पर्याय है। श्रीकृष्ण के प्रति पूर्ण आस्था एवं विश्वास प्रकट करने के लिये भक्त (अर्जुन) भक्तवत्सल (श्रीकृष्ण) को दृढतापूर्वक दो बार सम्बोधित करता है।

2. भीष्मपितामह परिवार के कुलवृद्ध ज्ञानसम्पन्न सदस्य हैं।

3. द्रौणाचार्य विद्यागुरु हैं।

4. **'पूजार्हौं'** पद के प्रयोग से अर्जुन ने 'आत्मीयभाव के संरक्षण' को युद्ध से बहिर्मुख होने का प्रधान कारण माना है। न कि दोनों शौर्य में अधिक हैं, इसलिये युद्ध कैसे कर सकूँगा, ऐसा सोचकर विचलित एवं भयभीत हो रहे हैं। मानवीय संवेदना का स्थान सर्वोच्च है, यह बतलाना अर्जुन को अभिप्रेत है।।4।।

गुरूनहत्वा हि महानुभावाञ्छ्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।

हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्।।5।।

सन्दर्भ–युद्ध क्षत्रिय धर्म है, इससे राजसीय वैभव प्राप्त होता है–इस मान्यता का खण्डन करता हुआ अर्जुन प्रस्तुत श्लोक द्वारा स्वमत को प्रस्तुत करता है।

अन्वय–महानुभावान् गुरून् अहत्वा हि इह भैक्ष्यम् अपि भोक्तुं श्रेयः (अस्ति)। तु अर्थकामान् गुरून् हत्वा इह एव रुधिरप्रदिग्धान् भोगान् भुञ्जीय।।5।।

पदार्थ–महानुभावान् गुरून् = महानुभाव गुरूओं को, अहत्वा = न मारकर, हि = यदि, इह = इस लोक में, भैक्ष्यम् अपि = भिक्षान्न भी, भोक्तुं = खाना पड़े तो, श्रेयः = कल्याणप्रद है। तु = क्योंकि, अर्थकामान् = धर्मादि का उपदेश करने वाले, गुरून् = गुरुजनों को, हत्वा = मारकर तो, इह एव = इसी लोक में, रुधिरप्रदिग्धान् = रक्तरंजित, भोगान् = भौतिक पदार्थों को, भुञ्जीय = भोगना पड़ेगा।।5।।

व्याख्या–युद्ध से विमुख अर्जुन युद्धविराम की श्रेष्ठता बतलाते हुए कहते हैं कि हे प्रभु! भीष्म, द्रोण, कृप आदि श्रेष्ठ गुरुओं को न मारकर इस लोक में भिक्षावृत्ति द्वारा प्राप्त अन्न का सेवन हमारे लिये श्रेयस्कर है। अन्यथा रक्तधारा से प्रसिक्त नारकीय भोगों का सेवन करना पड़ेगा।।5।।

विशेष–

1. यथार्थ गुरु उसे कहते हैं जिसका ज्ञान धर्म और ब्रह्म दोनों से समन्वित होता है। वे प्राणप्रतिष्ठा से धर्म की रक्षा करते हैं। अर्जुन की दृष्टि में भीष्म, द्रोण और कृप आदि आचार्य महानुभाव हैं। अतः उन्हे **'महानुभावान् गुरून्'** कहा है।

2. दूसरों को पीड़ा न देकर, दूसरों के घरों में न जाकर, अपने को मानसिक क्लेश न देकर प्राप्त अकल्पिक अल्प भोगसामग्री भी पर्याप्त है। सन्तोषधन सबसे बड़ा धन है–इस शास्त्रप्रसिद्धि को सूचित करने के लिये '**हि**' अव्यय का प्रयोग हुआ है।

3. प्रश्न है कि क्या शूरों को अनाथ के समान भिक्षा मांगकर भोजन करना उचित है? अथवा उन्हें तो शत्रुओं को जीतकर राजभोग करना चाहिये? इसके समाधानार्थ ही श्लोक की दूसरी पंक्ति से अर्जुन ने अपने मनोगत भाव को स्पष्ट कर दिया है कि धर्म के उपदेशक गुरुओं को मारकर मैं नारकीय भोगों का ही नहीं, अपितु निन्दनीय नरक का भी सेवन करूँगा। अतः गुरु आदि की हिंसा से रहित भिक्षा द्वारा लब्ध भोजन करना ही मैं श्रेयस्कर मानता हूँ, यह भाव है।

4. '**अर्थकाम**' में प्रयुक्त '**कमु**' धातु का ज्ञान अर्थ है। अर्थों का यानी धर्मादि पुरुषार्थों का जो शिष्यों के प्रति प्रतिपादन करते हैं अर्थात् बोधन करते हैं, उन्हें अर्थकाम कहते हैं। अतः धर्म के उपदेशक गुरुओं को अर्जुन ने '**अर्थकामान्**' पद से विशेषित किया है।।5।।

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।

यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः॥6॥

सन्दर्भ–प्रस्तुत श्लोक में युद्ध करने अथवा न करने के विषय में अर्जुन का सन्देह व्यक्त हो रहा है।

अन्वय–यद्वा जयेम, यदि वा नः जयेयुः, कतरत् नः गरीयः (अस्ति), एतत् च न विद्मः। यान् एव हत्वा न जिजीविषामः, ते धार्तराष्ट्राः प्रमुखे अवस्थिताः।।6।।

पदार्थ–यद्वा = चाहे, जयेम = हम (पाण्डव) जीतें, यदि वा = अथवा चाहे, नः = हमें, जयेयुः = वे (कौरव) जीतें। कतरत् = इन दोनों में कौन सा, नः = हमारे लिये, गरीयः = अधिक अच्छा है, एतत् च न विद्मः = यह भी मैं नहीं जानता हूँ। (मात्र इतना जानता हूँ कि) यान् एव = जिनको, हत्वा = मारकर, न जिजीविषामः = हम पाण्डव जीना नहीं चाहते हैं, ते = वे, धार्तराष्ट्राः = धृतराष्ट्र के पुत्र कौरव, प्रमुखे = सामने, अवस्थिताः = अवस्थित (खड़े) हैं।।6।।

व्याख्या–युद्ध त्याग कर भीख माँगना अथवा स्वजनों की हत्या कर राज्यभोग करना–इन दोनों में से हम धर्मपरायणों के लिये कौन सा मार्ग श्रेष्ठ है, इसका हमें परिज्ञान नहीं है। यद्यपि युद्ध करना ही श्रेयस्कर है, क्योंकि उसमें जय होने पर वह सुख का हेतु है, पराजय होने पर वह स्वर्ग का प्रापक है तथा स्वधर्म भी है, इसलिये युद्ध के विषय में संशय करना उचित नहीं है, फिर भी हे प्रभु! उससे प्राप्त हुई विजय हमारे लिये दुःख का निमित्त बनेगी, उससे किसी प्रकार के सुख की आशा नहीं है क्योंकि युद्धभूमि में धृतराष्ट्र के पुत्र-पौत्रादि सम्बन्धी खड़े हैं–ऐसे स्वजनों को हम मारना नहीं चाहते हैं।।6।।

विशेष–

1. '**च**' शब्द '**तु**' के अर्थ में है। यद्यपि '**च**' अव्यय शब्द अथवा उक्तियों को जोड़ने के लिये प्रायः प्रयुक्त होता है तथा कभी-कभी पादपूर्ति के लिये भी इसका प्रयोग होता है। किन्तु इस

श्लोक में निश्चय और निर्धारण के अर्थ में **'च'** अव्यय प्रयुक्त हुआ है।

2. अनर्थ के हेतुभूत युद्ध की अपेक्षा भिक्षाभोजन करना ही हमारे लिये श्रेयस्कर है, यह श्लोक का निहितार्थ है।

3. **'धार्तराष्ट्राः'** पद से धृतराष्ट्र के सौ पुत्र गृहीत हैं। धार्तराष्ट्र का दूसरा अर्थ इन्द्रियाँ भी है। दश इन्द्रियाँ दश दिशाओं में दौड़ती हैं, ऐसे सौ पुत्रों वाले धृतराष्ट्र हैं।।6।।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।।7।।

सन्दर्भ–प्रस्तुत श्लोक में करणीय - अकरणीय का निश्चय करने में असमर्थ अर्जुन अन्ततोगत्वा श्रीकृष्ण के समक्ष आत्मसमर्पण करते हैं और गुरुभक्ति प्रकट कर अपने को शिष्य होना घोषित करते हैं।

अन्वय–कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः धर्मसम्मूढचेताः त्वां पृच्छामि - यत् श्रेयः स्यात्, तत् मे निश्चितं ब्रूहि। अहं ते शिष्यः (अस्मि)। त्वां प्रपन्नं मां शाधि।।7।।

पदार्थ–कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः = कायरतारूप दोष से उपहत हुए स्वभाव वाला, धर्मसम्मूढचेताः = धर्म के विषय में मोहित हुए चित्त वाला मैं (अर्जुन), त्वां = आपसे, पृच्छामि = पूछता हूँ कि, यत् = जो, श्रेयः = कल्याणप्रद, स्यात् = होवे, तत् = उस (मार्ग) को, मे = मेरे प्रति, निश्चितम् = दृढ़तापूर्वक, ब्रूहि = बतलावें। अहम् = मैं, ते = तुम्हारा, शिष्यः = शिष्य हूँ, त्वाम् = तुम्हारे, प्रपन्नम् = शरणागत हुए, माम् = मुझ को, शाधि = उपदेश करें।।7।।

व्याख्या–अज्ञानतारूप कार्पण्यदोष से तिरस्कृत स्वभाव वाला तथा धर्म के मर्म से आवृत्त चित्त वाला मैं अर्जुन आपसे पूछता हूँ कि मेरे लिये जो निश्चित हितकर मार्ग हो, उसे कृपया मुझ से कहिए। मैं आपकी शरण में आया हूँ, मूझे उपदेश कीजिए।।7।।

विशेष–

1. **'कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः'** इस समस्त पद का दर्शनसम्मत विषयविस्तार इस प्रकार है–अज्ञानता के वशीभूत होकर जो देह, इन्द्रिय आदि जड़ तत्त्वों को ही आत्मा (चेतन) मानता है, ऐसा अज्ञानी (अतत्त्वज्ञानी) व्यक्ति ही यहाँ **'कृपण'** शब्द से गृहीत है। उसी कृपण में रहने वाला धर्म **'कार्पण्य'** (अज्ञान) कहलाता है। इस प्रकार अज्ञानी में अज्ञान धर्म रहता है।

यह अज्ञान तमोगुणप्रधान होने से वस्तु के यथार्थस्वरूप को दूषित करता है, अतः वह दोष है। अभिप्राय यह है कि अज्ञानरूप दोष से वस्तु का स्वरूप तिरोहित हो जाता है।

2. **'धर्मसंमूढचेताः'** कार्पण्यदोष से व्यक्ति धर्मसंमूढचेतस् होता है। अर्थात् अविद्या से तिरस्कृत व्यक्ति का तमोगुणप्रधान चित्त ज्ञानस्वरूप प्रकाशात्मक धर्म में प्रविष्ट नहीं होता है। 'धर्म' को व्याख्यायित करने में मन असमर्थ हो जाता है। यह **'धर्मसंमूढचेताः'** पद का निहितार्थ है।

3. **'शिष्यस्तेऽहं'** वाक्यांश द्वारा शास्त्रसम्मत उस पवित्र गुरु-शिष्य-परम्परा का स्मरण

कराया गया है जहाँ गुरु देवकोटि का होता है–**'यथा देवे तथा गुरौ'**। गुरु को प्रत्यक्ष देवता माने विना ज्ञान का स्फुरण कदापि नहीं हो सकता है। एक अन्य श्रुति भी है–**'नापुत्रायाशिष्याय वै पुनः।'** अर्थात् अपुत्र को और अशिष्य को श्रेय का उपदेश न करें। पुत्र और यथार्थ शिष्य ही अतिरहस्य को जानने का अधिकारी होता है।

4. **'त्वां प्रपन्नम्'** वाक्यांश द्वारा अर्जुन ने शिष्यत्व की परा अवस्था को स्वीकार किया है, गुरु के प्रति पूर्ण समर्पणभाव ज्ञापित किया है, शरणागति के मर्म को आत्मसात् किया है। आप जगद्गुरु परमेश्वर की शरण में प्राप्त हुआ हूँ।

5. **'शाधि माम्'** हे प्रभु! मुझ मुमुक्षु के ऊपर अनुग्रह कीजिए। उस श्रेय तत्त्व का उपदेश कीजिए जिससे शोक की निःशेष निवृत्ति हो जाय, यह श्लोक का फलितार्थ है।।7।।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद् यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।

अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाऽऽधिपत्यम्।।8।।

सन्दर्भ–श्रेयमार्ग के जिज्ञासु अर्जुन का विचलित मन सांसारिक भोग पदार्थों में आत्यन्तिक शान्ति नहीं देख रहा है। कहीं पण्डितमानी मानकर प्रभु मुझे अपना शिष्य न बनाया चाहें, तो अपने सांशयिक ज्ञान को स्पष्ट करते हुए अर्जुन प्रस्तुत श्लोक में कहते हैं।

अन्वय–भूमौ असपत्नम् ऋद्धं राज्यं, सुराणाम् अपि च आधिपत्यम् अवाप्य, यत् मम इन्द्रियाणाम् उच्छोषणं शोकम् अपनुद्यात्, न हि प्रपश्यामि।।8।।

पदार्थ–हे भगवन्! भूमौ = पृथ्वी में, असपत्नम् = निष्कण्टक, ऋद्धम् = समृद्ध, राज्यम् = राज्य को, अथवा सुराणाम् = देवताओं के, अपि = भी, आधिपत्यम् = स्वामी पद (इन्द्रपद) को, अवाप्य = प्राप्त करके भी, यत् = जो, मम = मेरी, इन्द्रियाणाम् = इन्द्रियों के, उच्छोषणम् = शोषणकर्ता, शोकम् = सन्ताप को अपनुद्यात् = दूर कर दे ऐसा, न हि प्रपश्यामि = कोई उपाय मैं नहीं देख रहा हूँ।।8।।

व्याख्या–हे भगवन्! पृथ्वी में शत्रुओं से रहित ऐश्वर्ययुक्त समग्र राज्य को अर्थात् सार्वभौमत्व को पाकर अथवा देवताओं के राजत्वपद अर्थात् इन्द्रपद अथवा ब्रह्मा के पद को पाकर भी मैं शोक का त्याग नहीं कर सकता। क्योंकि मेरी इन्द्रियों को शुष्क बनाने वाला दुःख इनसे दूर हो जाय–ऐसा मैं नहीं देख रहा हूँ।।8।।

विशेष–

1. **'हि'** इस अव्यय से अर्जुन के अज्ञान की प्रसिद्धि को सूचित किया गया है।

2. सार्वभौमत्व, इन्द्रत्व, ब्रह्मत्व आदि सब जन्य होने से नाशवान् हैं। नाशयुक्त पदार्थ शोक की आत्यन्तिक निवृत्ति करने में असमर्थ रहता है।

3. अर्जुन को विदित हो गया है कि ब्रह्मज्ञान के विना दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हो सकती और ब्रह्मज्ञान गुरु के उपदेश के विना सिद्ध नहीं होता है। ऐसी श्रुति भी है–**आचार्यवान्**

पुरुषो वेद।' इससे संसारदुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिये पुरुष को गुरु के समीप जाना चाहिए, यह सूचित किया है।।8।।

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतपः।

न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥9॥

सन्दर्भ–प्रस्तुत श्लोक में अर्जुन के मनोगत निर्णय का विषयसार धृतराष्ट्र को बतलाते हुए संजय का वक्तव्य प्रस्तुत है।

अन्वय–संजय उवाच। परन्तपः गुडाकेशः हृषीकेशं गोविन्दम् एवम् उक्त्वा न योत्स्ये, इति उक्त्वा तूष्णीं बभूव ह।।9।।

पदार्थ–संजय उवाच = संजय ने (धृतराष्ट्र को सम्बोधित करते हुए) कहा–परन्तपः = शत्रुओं का मर्दन करने वाला, गुडाकेशः = जितेन्द्रिय अर्जुन, हृषीकेषम् = सर्वेन्द्रिय प्रवर्तक अर्थात् अन्तर्यामी, गोविन्दम् = श्रीकृष्ण को, एवम् उक्त्वा = इस प्रकार के उक्त (4 से 8 श्लोकपर्यन्त) वचनों के साथ, न योत्स्ये = 'मैं युद्ध नहीं करूँगा', इति उक्त्वा = ऐसा कहकर, तूष्णीम् = मौन, बभूव ह = हो गया।।9।।

व्याख्या–धृतराष्ट्र के प्रति अर्जुन के वृत्त (व्यापार) को बतलाते हुए संजय ने कहा कि शत्रुओं के तापदायक जितालस्य अर्जुन भगवान् हृषीकेष से 'स्वजनों की हिंसा अत्यन्त शोक का कारण है, इसलिये मैं युद्ध नहीं करूँगा' ऐसा कहकर चुप हो गया, फिर कुछ नहीं बोला, यह अर्थ है।।9।।

विशेष– 1. **'परन्तपः'** अर्जुन शत्रुभय से भीत होकर युद्ध से विरत नहीं हो रहे हैं, यह इंगित करने के लिये उनकी शूर-वीरता **'परन्तपः'** पद से अभिव्यक्त हुई है।

2. **'गुडाकेशः'** अर्जुन का यह दूसरा विशेषण उनकी आलस्यहीनता को द्योतित कर रहा है, जितेन्द्रिय व्यक्ति आलस्य के वशीभूत नहीं होता है।

3. **'ह'** शब्द आश्चर्यबोधक है। अभिप्राय यह है कि शत्रुओं के साथ युद्ध न कर युद्धविरतिरूप आलस्य जो उनमें देखा गया है, वह आलस्य आगन्तुक है। अतः वह स्थायी नहीं होगा यह सूचित करने के लिये आश्चर्य अर्थ में **'ह'** शब्द प्रयुक्त है।

4. **'गोविन्दं हृषीकेषम्'** इन दो समीचीन पदों के प्रयोग द्वारा यह इंगित किया गया है कि समस्त प्राणियों के अन्तरिन्द्रिय और बहिरिन्द्रियों के परिचालक सर्वज्ञ प्रभु श्रीकृष्ण अर्जुन के आगन्तुक मोह को अनायास दूर कर देंगे। संजय ने इन दो शब्दों के द्वारा धृतराष्ट्र को यह भी समझाया है कि जब अर्जुन हृषीकेष गोविन्द के शरणागत हुए हैं तब युद्ध अवश्य ही होगा और अर्जुन का जयलाभ भी सुनिश्चित है।।9।।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।

सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः॥10॥

सन्दर्भ–प्रस्तुत श्लोक में संजय धृतराष्ट्र के मन में उदित इस आशंका को दूर कर रहे हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण ने शोकार्त अर्जुन से क्या कहा?

अन्वय–हे भारत! उभयोः सेनयोः मध्ये विषीदन्तं तं हृषीकेशः प्रहसन् इव इदं वचः उवाच।।10।।

पदार्थ–हे भारत! = हे धृतराष्ट्र! उभयोः = कौरव-पाण्डव दोनों, सेनयोः = सेनाओं के, मध्ये = बीच में, विषीदन्तम् = विषादग्रस्त (प्रवृत्ति-निवृत्ति के अनिर्णीत बिन्दु पर अवस्थित), तम् = अर्जुन को, हृषीकेशः = सर्वेन्द्रियनियामक श्रीकृष्ण ने, प्रहसन् इव = प्रसन्न एवं सहज मुद्रा में, इंद वचः = ये बातें (निम्ननिर्दिष्ट वचन), उवाच = कहीं।।10।।

व्याख्या–हे भारत! उभय सेनाओं में विषादग्रस्त अर्जुन को मानो उपहास के छल से हृषीकेष ये बातें बोले।।10।।

विशेष–

1. **'भारत!'** संजय ने धृतराष्ट्र को 'भरतकुलशिरोमणि' होने का अनुभव कराने के लिए भारत! पद के द्वारा उन्हें सम्बोधित किया है। गूढ अभिप्राय से ही 'भारत' शब्द के द्वारा धृतराष्ट्र को संजय ने सचेत किया है। और विगत श्लोक में अर्जुन की एकदेशिता इंगित करने के लिये **'गुडाकेशः'** पद का तुच्छभाव से प्रयोग किया है।

2. **'प्रहसन्निव'** जो परिहास लोक में प्रसिद्ध है, उससे भगवान् का यह परिहास विलक्षण है, यही **'इव'** शब्द का तात्पर्य है। अभिप्राय यह है कि अर्जुन का शोक-मोह दूर करना भगवान् के लिये अतिसहज है, यह इंगित करने के लिये **'प्रहसन्निव'** पद का प्रयोग हुआ है।

अन्य अर्थ में किसी के भी अनुचित आचरण का विज्ञापन कर उसमें लज्जा की सृष्टि करने को 'प्रहसन' कहा जाता है। यहाँ लज्जा उत्पादन करना श्रीकृष्ण का उद्देश्य नहीं है, क्योंकि लज्जा दुःखस्वरूप है। जब कि अर्जुन श्रीकृष्ण के अनुग्रह के पात्र हैं। अतः वे कभी भी अर्जुन को लज्जारूप दुःख नहीं दे सकते हैं। अतः यहाँ प्रहसन् का तात्पर्य केवल अर्जुन का अनुचित आचरण प्रकाश करने का अभिप्राय ही है।

अन्य अर्थ में **'प्रहसन्निव'** पद के प्रयोग से चिरसखा भगवान् पण्डितमानी अर्जुन के व्यवहार से रुष्ट नहीं हुए अपितु दयावश प्रसन्नमुद्रा में उसे गीतोपदेश किया–यह द्योतित करना अभीष्ट है।।10।।

भगवानुवाच

अशोच्यानन्वशौचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।

गतासूनगतासूंश्च नाऽनुशोचन्ति पण्डिताः॥11॥

सन्दर्भ–प्रस्तुत श्लोक से श्रीकृष्ण गीतोपदेश का प्रारम्भ करते हैं।

अन्वय–भगवान् उवाच-त्वम् अशोच्यान् अन्वशोचः प्रज्ञावादान् च भाषसे। पण्डिताः

गतासून् अगतासून् च न अनुशोचन्ति।।11।।

पदार्थ–भगवान् उवाच = भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा–त्वम् = हे अर्जुन तुम, अशोच्यान् = जिनके लिये शोक करना उचित नहीं है उनके लिये, अन्वशोचः = तुम शोक कर रहे हो, च = और, प्रज्ञावादान् = ज्ञानियों की तरह, भाषसे = बातें कर रहे हो। पण्डिताः = तत्त्वज्ञानी लोग, गतासून् = विगतप्राण (मृत) च = और, अगतासून् = जीवित लोगों के लिये, न अनुशोचन्ति = शोक नहीं करते हैं।।11।।

व्याख्या–श्रीकृष्ण अर्जुन को आश्वस्त करते हुए कहते हैं कि हे अर्जुन! जिन भीष्म, द्रोण आदि के विषय में शोक करना उचित नहीं है अर्थात् जो शोचनीय नहीं हैं, उनके विषय में तुम शोक कर रहे हो और दूसरी ओर शास्त्रों में प्रदर्शित वादों का भी प्रतिवाद करते हो। इसलिये (अन्धकार और प्रकाश) की तरह परस्पर विरुद्ध मार्गों का अवलम्बन करने वाले तुम पण्डित नहीं हो। क्योंकि पण्डित (ज्ञानी) वें कहलाते हैं जो मृत अथवा जीवित प्राणियों के विषय में उद्विग्न नहीं होते हैं।।11।।

विशेष–

1. **'अशोच्यान्'** पद के द्वारा श्रीकृष्ण ने गीता के प्रथम अध्याय (1/28-46) में मुख्य रूप से अर्जुन के अभिव्यक्त शोक को दार्शनिक धरातल पर अमान्य सिद्ध किया है। व्यवहार और दर्शन की अन्तःसंगति इस प्रकार लगाई जा सकती है–भीष्म, द्रोण प्रभृति सभी आचार्य ब्रह्मचारी हैं। मृत्यु के पश्चात् भी उनकी चिरस्थायि सुकीर्ति बनी रहेगी। फिर परमार्थदृष्टि से वे लोग नित्य हैं। अतः उनके देहादि का नाश होने पर भी आकाशवत् सर्वव्यापी आत्मा का कभी भी नाश नहीं होगा। अतः उनके लिये शोक का कोई कारण नहीं बनता है।

2. **'अन्वशोचः'** किन्तु हे अर्जुन! तुम अज्ञानी व्यक्ति की तरह, जो रजत नहीं है उसमें रजत बुद्धि की तरह, परमार्थतः नित्य भीष्म आदि के देहनाश से आत्मा का नाश सोच रहे हो। यह भ्रान्ति अथवा मूढता का ही परिचायक है।

3. **'प्रज्ञावादान् भाषसे'**–सत्-असत् के स्वरूप को विवेकपूर्वक जो भली-भाँति जानते हैं, वे 'प्रज्ञ' कहलाते हैं और शास्त्रों में प्रतिपादित उनके जो वाद हैं, वे 'प्रज्ञावाद' कहलाते हैं। उन प्रज्ञावादों अर्थात् प्रज्ञावान् के प्रौढ वचनों को भी **उत्सन्नकुलधर्माणां** (गीता 1/44) कहकर तुम निराकृत कर रहे हो।

4. **'पण्डिताः'** वे ही पण्डित हैं जो असत् का त्याग कर सत् का ही ग्रहण करते हैं। अभिप्राय यह है कि जिन लोगों ने समाधि के द्वारा आत्मसाक्षात्कार कर अविद्यारूपी ग्रन्थि को छिन्न कर दिया है और जगत् के समस्त दृश्य पदार्थों को कल्पित जानकर उनमें लिप्त नहीं होते हैं, वे ही **'पण्डित'** कहे जाते हैं। हे अर्जुन! पण्डितमानी नहीं, अपितु पण्डित बनो।।11।।

न त्वेवाऽहं जातु नाऽऽसं न त्वं नेमे जनाधिपाः।

न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्।।12।।

सन्दर्भ–शरीर से भिन्न आत्मा की त्रैकालिक सत्ता का प्रतिपादन किया जा रहा है।

अन्वय–जातु अहं नासम् इति तु न एव (किन्तु आसमेव), न त्वं, न इमे जनाधिपाः इति न। अतः परं सर्वे वयं न च एव भविष्यामः इति न (किन्तु भविष्याम एव)।।12।।

पदार्थ–जातु = कदाचित्, अहम् = मैं, नासम् = नहीं था, इति तु न एव = ऐसा कभी भी नहीं था अर्थात् मैं सदा ही था। (ऐसे ही) न त्वम् = तुम नहीं थे, न इमे जनाधिपाः = ये राजा लोग नहीं थे, इति न = ऐसा भी नहीं था अर्थात् तुम और ये राजन्यवर्ग सदा ही थे। अतः परम् = इसके बाद, सर्वे वयम् = हम सभी जन, न च एव भविष्यामः = भविष्य में भी नहीं होंगे, इति न = ऐसा भी नहीं है, किन्तु होंगे ही।।12।।

व्याख्या–मैं तत्पदार्थवाच्य परमात्मा किसी समय नहीं था, ऐसा नहीं है, किन्तु सदा मैं था ही, वैसे ही तुम और ये सब राजा नहीं थे, ऐसा नहीं है, किन्तु थे ही और भविष्य में भी हम सब लोग नहीं होगें, ऐसा भी नहीं है, किन्तु अवश्यमेव विद्यमान रहेंगे।।12।।

विशेष–

1. मनुष्य की जीवनयात्रा प्रथमपुरुष, मध्यमपुरुष और उत्तमपुरुष से संचालित होती है। श्री कृष्णार्जनसंवाद में **'अहं'** पदवाच्य स्वयं श्रीहरि हैं, **'त्वं'** पदवाच्य अर्जुन और इनके अतिरिक्त प्रथमपुरुषीय समस्त प्राणिजन (राजन्यवर्ग) हैं। तीनों वर्गों की नित्यता असन्दिग्ध है। क्योंकि सभी का आत्मा नित्य है।

2. **'तत् त्वम् असि'** इस वेदान्त वाक्य के अनुसार **'तत्'** पदवाच्य ब्रह्म है और **'त्वम्'** पदवाच्य जीवात्मा। आत्मत्वेन जीव ब्रह्मरूप है अर्थात् दोनों की पारमार्थिक अभिन्नता है।

3. उत्पत्ति और विनाशशील देहादि ही षड्भाव विकारों (अस्ति, जायते, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते तथा विनश्यति) से समन्वित हैं, न कि नित्य आत्मा। आत्मत्वेन आत्मा नित्य है न कि जीवत्वेन अनित्य और परमात्मत्वेन नित्य है। यह प्रस्तुत श्लोक की फलाभिसन्धि है।।12।।

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।

तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥13॥

सन्दर्भ–प्रस्तुत श्लोक में श्रीकृष्ण अर्जुन को देह और देही के तात्त्विक भेद को समझाते हैं।

अन्वय–यथा अस्मिन् देहे देहिनः कौमारं यौवनं जरा, तथा देहान्तरप्राप्तिः, तत्र धीरः न मुह्यति।।13।।

पदार्थ–यथा = जिस प्रकार, अस्मिन् = इस, देहे = शरीर में, देहिनः = देहाभिमानी देही की, कौमारम् = बाल्य, यौवनम् = यौवन, जरा = जीर्ण अवस्था होती है। तथा = उसी प्रकार, देहान्तरप्राप्तिः = इस देह के विनाश के पश्चात् अन्य देह की प्राप्ति होती है। अतः, तत्र = आत्मा के नित्यत्व के विषय में, धीरः = विज्ञजन, न मुह्यति = मोहित नहीं होता है।।13।।

व्याख्या–देहविशिष्ट आत्मा की जिस प्रकार वर्तमान देह में कौमार, यौवन और जरा ये तीन प्रकार की परस्पर विलक्षण अवस्थाएँ दिखलाई पड़ती हैं उसी प्रकार देही आत्मा को दूसरा देह भी मिलता है। अतः बुद्धिमान् व्यक्ति जीव के आवागमन पर शोक नहीं करते हैं।।13।।

विशेष–

1. देह-देही के दृष्टान्त से शरीर की अनित्यता तथा आत्मा की नित्यता स्थापित करना अभिप्रेत है। बाल्य, यौवन, जरा आदि शरीरनिष्ठ अवस्थाएँ देहाभिमानी जीव में उसी प्रकार उपचरित होती हैं, जिस प्रकार जपाकुसुम के सन्निधान से स्फटिक में रक्तिमा आभासित होती है। वास्तविक दृष्टि से जैसे स्फटिक में श्वेतिमा है वैसे ही आत्मा में नित्यता है। अर्थात् आत्मा नित्य है।

2. '**देही**' जिसका देह है, उसे देही कहते हैं। इस प्रकार देह में ही आत्मा की उपलब्धि होने से आत्मा '**देही**' कहलाता है।

3. '**देहान्तरप्राप्तिः**' वर्तमान शरीर के नष्ट हो जाने पर भी नित्य आत्मा का नाश नहीं होता है, अपितु भविष्य में भी एक देह के पश्चात् दूसरा देह उसे प्राप्त होता है। देहविशिष्ट देही आत्मा की तीनों काल में सत्ता है। अविकारी आत्मा नित्य है, यह द्योतित करने के लिये '**देहान्तरप्राप्तिः**' इस पद से उसे विश्लेषित किया गया है।

4. '**धीरः**' जो अनात्मवस्तु से आत्मा को पृथक् कर आत्मा के यथार्थ स्वरूप को ज्ञात कर चुका है, वह आत्मतत्त्वज्ञ पुरुष '**धीर**' पद का वाच्य है।।13।।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।

आगमापायिनोऽनित्यास्तान् तितिक्षस्व भारत॥14॥

सन्दर्भ–प्रस्तुत श्लोक में अनित्य पदार्थ की अनित्यता का सिद्धान्त आत्मसात् कराते हुए श्रीकृष्ण अर्जुन को आत्मबोध कराते हैं।

अन्वय–हे कौन्तेय! मात्रास्पर्शाः तु शीतोष्णसुखदुःखदाः आगमापायिनः अनित्याः। हे भारत! तान् तितिक्षस्व।।14।।

पदार्थ–हे कौन्तेय! = हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! मात्रास्पर्शाः = इन्द्रिय के साथ विषय का सम्बन्ध, शीतोष्णसुखदुःखदाः = शीत और उष्ण की तरह सुख और दुःख को देने वाले हैं। आगमापायिनः = वे उत्पत्ति और विनाशशील होने के कारण, अनित्याः = अनित्य हैं। अतः हे भारत! = हे भरतवंशीय अर्जुन! तुम, तान् = अनित्य पदार्थों को, तितिक्षत्व = सहन करो।।14।।

व्याख्या–हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! चक्षु, वाक् आदि इन्द्रियों से गृहीत होने वाले शब्द आदि भोग्य पदार्थ सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख आदि का अनुभव कराते हैं। उत्पत्ति और विनाश स्वभाव वाले होने से नित्य नहीं हैं। अतः हे भारत! इनके वियोग को सहन करो।।14।।

विशेष–

1. अनित्य पदार्थों से प्राप्त होने वाले तीन प्रकार के दुःखों को सहकर तीव्र मोक्ष की इच्छा

से सदा ब्रह्म का अनुसन्धान करना चाहिये, यह श्लोक का फलितार्थ है।

2. **भारत**! यह सम्बोधक पद अर्जुन की भारतवंशीय कुल परम्परा के साथ-साथ एक अन्य व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ का भी बोध कराता है। **भा** = ब्रह्मविद्या, **तस्यामेव रमते इति भारत** अर्थात् जो ब्रह्मविद्या में ही रमण करे, उसे भारत कहते हैं। इससे अर्जुन की ब्रह्मविद्या की अधिकारिता सूचित होती है।

3. '**मात्रास्पर्शाः**'–इन्द्रियों के द्वारा सभी विषय मित अर्थात् गृहीत होते हैं, इसलिये इन्द्रिय को 'मात्रा' कहते हैं और इन्द्रिय का विषय के साथ सम्बन्ध = संयोग होने को मात्रा कहा गया है। न्याय की शब्दावली में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष ही ज्ञान का जनक होता है। सांख्ययोग की शब्दावली में 'मात्रा' शब्द पञ्चतन्मात्र एवं 'स्पर्श' शब्द पञ्चमहाभूत का उपलक्षण है। अभिप्राय यह है कि आकाश-वायु-अग्नि-जल-पृथ्वी इन पञ्चमहाभूतवर्ती शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच विषय इन्द्रियों द्वारा गृहीत हैं और इन पञ्च महाभूतों की कारणभूता पञ्चतन्मात्राएँ भी योगियों के ज्ञान का विषय बनती हैं। ज्ञान के विषयभूत ये समस्त भूत-भौतिक पदार्थ अनित्य हैं। सुख-दुःख इनके धर्म हैं।

4. '**तितिक्षस्व**' अनित्य देहधारी भीष्म, द्रोण आदि का वियोग सहन करो और देही आत्मा की नित्यता को पहचानों।।14।।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।

समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥15॥

सन्दर्भ–प्रस्तुत श्लोक में तत्त्वज्ञानी का स्वरूप प्रतिपादित है।

अन्वय–हे पुरुषर्षभ! एते यं समदुःखसुखं पुरुषं हि न व्यथयन्ति, सः अमृतत्वाय कल्पते।।15।।

पदार्थ–हे पुरुषर्षभ = हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन!, एते = ये शीत, उष्ण आदि विषय, यम् = जिस, समदुःखसुखम् = सुख-दुःख में समान रहने वाले, पुरुषम् = पुरुष को, हि = निश्चित रूप से, न व्यथयन्ति = व्यथित नहीं करते हैं, स = वह पुरुष, अमृतत्वाय = मोक्ष को, कल्पते = प्राप्त होता है।।15।।

व्याख्या–हे नरश्रेष्ठ अर्जुन! जो सुख और दुःख में समभाव रहता है अर्थात् सुख में हर्ष और दुःख में विषाद का अनुभव नहीं करता है अर्थात् निर्द्वन्द्व रहता है उसे शीतोष्णादि विषय बाधाएँ नहीं पहुँचाते हैं। वही पुरुष मोक्ष का अधिकारी होता है।।15।।

विशेष–

1. '**धीरं पुरुषं**'–धीमान् पुरुष वह कहलाता है जो शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा तथा समाधानयुक्त होकर आत्मज्ञान करने के योग्य होता है।

2. '**पुरुषर्षभ**'–सदात्मनिष्ठ होकर आगत दुःखों का सहजता से निर्वाह करता हुआ जो कैवल्याभिमुख होता है, उसे '**पुरुषर्षभ**' = पुरुषोत्तम कहा गया है।।15।।

नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः।

उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥16॥

सन्दर्भ–प्रस्तुत श्लोक द्वारा ब्रह्म की ही सत्ता एवं तद्भिन्न जगत् की असत्ता को निर्धारित किया जा रहा है।

अन्वय–असतः भावः न विद्यते, सतः अभावः न विद्यते। तत्त्वदर्शिभिः उभयोः अपि अनयोः अन्तः तु दृष्टः।।16।।

पदार्थ–असतः = असत् की, भावः = सत्ता, न विद्यते = नहीं है (और), सतः = सत् का, अभावः = अभाव, न विद्यते = नहीं है। तत्त्वदर्शिभिः = तत्त्वज्ञानियों ने, उभयोः अपि अनयोः = इन दोनों सत्-असत् के विषय में, अन्तः तु दृष्टः = निश्चय किया है।।16।।

व्याख्या–असत् पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती है और सत् पदार्थ का कभी नाश नहीं होता है। इस प्रकार तत्त्वदर्शियों ने इन दोनों के स्वरूप को समझा है।।16।।

विशेष–

1. यहाँ सत्-असत् का निर्णय वस्तु के स्वरूप के आधार पर किया जा रहा है, जिससे स्वकीयजन के प्रति अर्जुन का अज्ञानजनित व्यामोह दूर हो सके। शरीर में स्थित जीवतत्त्व की नित्यता के व्याज से शरीर को अनित्य सिद्ध करना श्लोक का फलितार्थ है।

2. आत्मतत्त्व सद्रूप है और अनात्म पदार्थ असद्रूप है। इस प्रकार आत्म-अनात्म-विवेकबुद्धि ही व्यक्ति को स्थितप्रज्ञ बनाती है। हे अर्जुन! तुम भी तत्त्वदृष्टि के द्वारा जागतिक पदार्थों को असद्रूप जानकर उनके विनष्ट होने पर शोकाकुल न हो। द्रोण, भीष्म आदि के नाशवान् शरीर में निहित आत्मा के नित्यत्व को पहचानोगे तो शोक का अवकाश नहीं रहेगा।।16।।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।

विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति॥17॥

सन्दर्भ–प्रस्तुत श्लोक में सर्वव्यापी नित्य आत्मा को उपपादित किया जा रहा है।

अन्वय–येन इदं सर्वं ततं, तत् तु अविनाशि विद्धि। अस्य अव्ययस्य कश्चित् विनाशं कर्तुं न अर्हति।।17।।

पदार्थ–येन = जिसके द्वारा, इदं सर्वम् = यह सम्पूर्ण जगत्, ततम् = व्याप्त है, तत् तु = उसको ही, अविनाशि = नाशरहित, विद्धि = जानना चाहिए। अस्य अव्ययस्य = उस अविनाशी का, कश्चित् = कोई भी, विनाशम् = विनाश, कर्तुम् = करने के लिये, न अर्हति = समर्थ नहीं है।।17।।

व्याख्या–(श्रीकृष्ण अर्जुन को उपदेश करते हैं कि हे कौन्तेय!) जिसने इस सारे जगत् को व्याप्त किया है, वह सूक्ष्मतम वस्तु अविनाशी है। उस अविनाशी का कोई भी विनाश नहीं कर सकता है।।17।।

विशेष–

1. जैसे सूर्य की किरणों से जल का प्रवाह व्याप्त रहता है, वैसे ही दिखलाई पड़ने वाला यह जगत् अतिसूक्ष्म व्यापक सत् ब्रह्म, जो आत्मपदवाच्य है, से परिव्याप्त है। उत्पत्ति और विनाश के स्वभाव (शील) से रहित होने के कारण उसे अविनाशी कहते हैं। जैसे घट-पट आदि सावयव पदार्थों का अपने अवयवों के नाश से नाश होता है, वैसे निरवयव आत्मा का अपने से नाश उपपन्न नहीं होता है।

2. **अव्ययस्य**–आत्मा को 'अव्यय' इसलिये कहते हैं कि उसके स्वरूप में कभी परिवर्तन नहीं होता है। वह तो कूटस्थनित्य पदार्थ है। नित्य पदार्थ का स्वरूप अपरिवर्तनीय रहता है। अव्यय, देही, अविनाशी, अज, नित्यपदवाच्य चैतन्यस्वरूप आत्मा है। देह में प्रतिभासित चेतनता उसका स्वाभाविक धर्म नहीं अपितु औपाधिक धर्म है। अतः देह नाशवान् और देही आत्मा नित्य है।।17।।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।

अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद् युध्यस्व भारत॥18॥

सन्दर्भ– पूर्व श्लोकों में आत्मा का अविनाशित्व निरूपण कर अब आत्मातिरिक्त समस्त वस्तुओं को असत् तथा विनाशी सिद्ध कियां जा रहा है।

अन्वय– नित्यस्य अनाशिनः अमेयस्य शरीरिणः इमे देहाः अन्तवन्तः उक्ताः। हे भारत! तस्मात् युध्यस्व।।18।।

पदार्थ– नित्यस्य=नित्य, अनाशिनः=अविनाशी, अप्रमेयस्य=अप्रमेय, शरीरिणः=देही आत्मा के, इमे देहाः=ये सारे शरीर, अन्तवन्तः=मरणधर्मशील, उक्ताः=कहे गये हैं। तस्मात्=इस कारण से, भारत!=हे भरतवंशीय अर्जुन! तुम, युध्यस्व=युद्ध करो।।18।।

व्याख्या– विनाशरहित, अप्रमेय और नित्य शरीरी आत्मा के ये देह अनित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन! तुम युद्ध के लिये तत्पर हो जाओ।।18।।

विशेष–

1. **'नित्यस्य, अविनाशिनः, अप्रमेयस्य'**– ये तीनों पद आत्मा के स्वरूपप्रतिपादक हैं। पुनरुक्तिदोष से रहित देह से भिन्न देही के पार्थक्य का प्रतिपादन करते हैं। देह अल्पकाल तक अवस्थित रहता है अतः वह 'नियत' है किन्तु 'देही' की त्रैकालिक सत्ता है अतः वह नित्य है। नियत देह का स्वरूप परिवर्तित होता रहता है अतः देह विनाशशील है किंतु देही विनाश=परिवर्तन की सभी सीमाओं से अनतिक्रमित है अतः आत्मा अविनाशी है। देह प्रमेय है और देही 'अप्रमेय'। जिसके सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त किया जाता है, वह 'प्रमेय' है और जिसके द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जाता है, वह प्रमाता है। आत्मा को प्रमाता कहते हैं और देह द्वारा उपलक्षित यच्च-यावत् जड़ पदार्थ प्रमेयकोटिक हैं।

2. **'शरीरिणः'**– शरीरविषयक रागानुबन्ध प्रगाढ होता है। देहधारी आचार्यों के रागानुबन्ध

को अर्जुन शिथिल नहीं कर पा रहा है। अतः देह और शरीर को उपलक्षण बनाकर तद्भिन्न आत्मा को देही और अशरीरी के रूप में व्याख्यायित किया जा रहा है। दूसरी युक्ति यह है कि देह में चैतन्य की प्रबल प्रतीति उसी प्रकार होती है जिस प्रकार काष्ठ में अग्नि की। इस प्रकार प्रत्यक्ष से परोक्ष, स्थूल से सूक्ष्म, देह से देही प्रमेय से प्रमाता, अनित्य से नित्य का अनुसन्धान किया जा रहा है।

3. **'युध्यस्व'** जैसे भोजन करने वाले शंकित पुरुष की शंका को दूर कर उसे भोजन में नियुक्त किया जाता है वैसे ही युद्ध के लिये तैयार हुए अर्जुन की भ्रान्ति को दूर कर 'अपना कार्य करो' ऐसी भगवान् आज्ञा देते हैं।।18।।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नाऽयं हन्ति न हन्यते॥19॥

सन्दर्भ– प्रस्तुत श्लोक में कूटस्थ आत्मा में शारीरिक क्रियाओं के आश्रय तथा विषय बनने का प्रतिषेध किया जा रहा है।

अन्वय– यः एनं हन्तारं वेत्ति, यः च एनम् हतं मन्यते, तौ उभौ न विजानीतः। अयं न हन्ति न (वा) हन्यते।।19।।

पदार्थ– यः= जो , एनम्= इस आत्मा को, हन्तारम्=हन्ता, वेत्ति=जानता है, यश्च=और जो, एनम् = इसको, हतम्=हत, मन्यते=मानता है, तौ उभौ=-वे दोनों, न विजानीतः=इसका स्वरूप नहीं जानते हैं। अयम्=यह, न हन्ति=न मारता है, न हन्यते= न मारा जाता है।।19।।

व्याख्या– जो पुरुष अहंपदवाच्य आत्मा को हनन क्रिया का कर्त्ता जानता है और जो व्यक्ति इसे हननक्रिया का विषय मानता है, वे दोनों आत्मा के स्वरूप से अनभिज्ञ हैं। क्योंकि आत्मा न तो मारता है और न ही मारा जाता है।।19।।

विशेष–

1. **न हन्ति न हन्यते**– 'मैं इसको मारता हूँ' और 'मैं इससे मारा गया हूँ' इत्यादि वाक्यों से आत्मा में कर्तृत्व और विषयत्व की जो प्रतीति होती है, वह उसी प्रकार भ्रान्तियुक्त है जिस प्रकार विशुद्ध स्फटिक मणि निकटस्थ भिन्नवर्णीय वर्ण की आभा से अनुरञ्जित जान पड़ती है। अथवा जिस प्रकार समुद्र की उत्ताल तरंगों में प्रतिबिम्बित सूर्य चलायमान प्रतीत होता है। कूटस्थ नित्य आत्मा में न तो क्रिया का कर्तृत्व है और न क्रिया का विषयत्व। **'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च'** श्रुतिवाक्य का यही अभिप्रेत अर्थ है।।19।।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नाऽयं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥20॥

सन्दर्भ– प्रस्तुत श्लोक में यास्कमुनि के कहे हुए जन्मादि छह भावविकारों से रहित कूटस्थ, असंग, चिद्रूप आत्मतत्त्व का निर्धारण किया जा रहा है।

अन्वय– अयं कदाचित् न जायते न वा म्रियते। अयं भूत्वा न भविता, न वा (अभूत्वा)

भूयः (भविता), शरीरे हन्यमाने न हन्यते। अयम् अजः नित्यः शाश्वतः पुराणः च (अस्ति)।।20।।

पदार्थ– अयम्=यह आत्मा, कदाचित्= किसी समय, न जायते=उत्पन्न नहीं होता है, न वा म्रियते=और न किसी समय मरता है। अयं भूत्वा वा=अथवा यह उत्पन्न होकर, न भविता=विनाश को प्राप्त नहीं होता है, न वा अभूत्वा=और न आत्मा विनाश प्राप्त कर, भूयः (भविता)=पुनः जन्म ग्रहण करता है। शरीरे हन्यमाने= शरीर के नष्ट हो जाने पर भी, न हन्यते=आत्मा का विनाश नहीं होता है। अयम्=यह आत्मा, अजः=जन्मरहित, नित्यः=सर्वदा एकरूप, शाश्वतः=सर्वदा वर्तमान और पुराणः=अनादि है।।20।।

व्याख्या– यह अज आत्मा न कभी उत्पन्न होता है, न कभी नष्ट होता है। न कभी जन्म पाकर अपने अस्तित्व को प्राप्त करता है और न कभी खड्ग आदि से शरीर का छेदन करने पर उसका छेदन होता है। वह नित्य, शाश्वत और पुराण है।।20।।

विशेष–

शरीर छह प्रकार के भावविकारों से युक्त है। वे छह विकार हैं–

1. **जायते–** देह का जन्म होता है।

2. **अस्ति–** पहले जो देह नहीं था, उसका अस्तित्व अब अनुभूत हो रहा है।

3. **वर्धते–** देह की क्रमशः वृद्धि हो रही है।

4. **विपरिणमते–** देह में बाल्य, युवा आदि अवस्थाओं का परिवर्तन हो रहा है।

5. **अपक्षीयते–** देह क्षय को प्रात हो रहा है। जरावस्था देहक्षय को बतलाती है।

6. **नश्यति–** देह का विनाश अर्थात् मृत्यु हो जाती है।

अज आत्मा जायमान पदार्थों के विकारों अर्थात् परिवर्तनों से सर्वथा पृथक् कूटस्थ नित्य है, यह श्लोक का फलितार्थ है।।20।।

वेदाऽविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।

कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्।।21।।

सन्दर्भ– आत्मतत्त्व को असंग जानने वाले विद्वान् का सर्वकर्मसंन्यास में ही अधिकार है, अन्य में अधिकार नहीं है, ऐसा निर्दिष्ट करने के लिये श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं।

अन्वय– हे पार्थ! यः एनम् (आत्मानं) अजम् अव्ययं नित्यम् अविनाशिनं वेद, सः पुरुषः कथं कं घातयति कं (वा) हन्ति।।21।।

पदार्थ– हे पार्थ=हे अर्जुन!, यः=जो, एनम्= इसको, अविनाशिनम्=अविनाशी, नित्यम्=नित्य, अजम्=जन्मरहित, अव्ययम्=क्षयरहित, वेद=जानता है, सः पुरुषः=वह पुरुष, कथम्=किस प्रकार, कं घातयति=किसको मरवाता है अथवा कम्= किसको, हन्ति=मारता है।।21।।

व्याख्या– हे अर्जुन! जो तत्त्वज्ञानी पुरुष इस आत्मा को अविनाशी, अज और अव्यय

जानता है, वह किस प्रकार किसको हनन आदि क्रियाओं में प्रवृत्त करायेगा और किसका स्वयं विनाश करेगा।।21।।

विशेष–

1. **'स पुरुषः'**– इन पदों के द्वारा सर्वात्मभावप्राप्त तत्त्वज्ञानी पुरुष गृहीत है न कि सामान्यज्ञान वाला साधारण पुरुष। अभिप्राय यह है कि ब्रह्मचर्य, अहिंसादिवृत्तिसम्पन्न, ईश्वर के प्रसादरूप श्रवणादि साधनसम्पत्ति से सम्पन्न, मोक्ष के ही प्रयोजन वाला मुमुक्षु तथा सर्वशास्त्रवित् ज्ञानी पुरुष ही आत्मा की कूटस्थनित्यता को समझ पाता है। इसलिये सामाजिक रागानुबन्ध से अलिप्त रहता है। केवल जीवनयात्रा के निर्वाहार्थ स्वधर्म का पालन करता है। हे अर्जुन! तुम तत्त्वज्ञानी बनो - यह श्लोक का फलितार्थ है।।21।।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।।22।।

सन्दर्भ– प्रस्तुत श्लोक में परिवर्तनीय शरीर में आत्मा अविक्रिय अर्थात् विकाररहित होकर किस प्रकार अवस्थित रहता है, इसे वैदिक दृष्टान्त से समझाया गया है।

अन्वय– यथा नरः जीर्णानि वासांसि विहाय अपराणि नवानि गृह्णाति, तथा देही जीर्णानि शरीराणि विहाय अन्यानि नवानि संयाति।।22।।

पदार्थ– यथा=जिस प्रकार, नरः=मनुष्य, जीर्णानि वासांसि= पुराने वस्त्रों को, विहाय=त्यागकर, अपराणि=अन्य, नवानि=नूतन वस्त्रों को, गृह्णाति= ग्रहण करता है, तथा=उसी प्रकार, देही=जीवात्मा, जीर्णानि शरीराणि=जीर्ण शरीरों को, विहाय=त्यागकर, अन्यानि=दूसरे, नवानि= नये शरीरों को, संयति=प्राप्त करता है।।22।।

व्याख्या– पुरुष जैसे अपने जीर्ण वस्त्रों का परित्याग कर नवीन वस्त्रों का ग्रहण करता है, वैसे ही यह आत्मा जीर्ण शरीरों का परित्याग कर नवीन शरीरों का ग्रहण करता है।।22।।

विशेष–

1. जैसे वस्त्रों का ही आना और जाना, नाम और रूप की ही विभिन्नता और शिथिलता होती है, न कि पुरुष की होती है। वैसे ही शरीरों में ही जन्म और नाश तथा दूसरे अवयवों का विकार होता है, निरवयव आत्मा में नहीं। आत्मा देह और इन्द्रिय से भिन्न है अतः अविकारी और नित्य है, ऐसा श्लोक का भाव है।

2. अभिप्राय यह है कि संघातविशिष्ट शरीर से आत्मा का औपाधिक सम्बन्ध ही आत्मा का जन्म और शरीर से आत्मा के औपाधिक सम्बन्ध का परित्याग ही उसका मरण कहा जाता है। जब कि तात्त्विक दृष्टि से परिणामी आत्मा अज और नित्य है।।22।।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।।23।।

सन्दर्भ– शरीरात्मवादियों के मत का खण्डन करते हुए देही को देह के धर्मों से सर्वथा पृथक् बतलाया जा रहा है।

अन्वय– एनं शस्त्राणि न छिन्दन्ति। एनं पावकः न दहति। एनम् आपः न क्लेदयन्ति। एनं मारुतः न शोषयति।।23।।

पदार्थ– एनम्=इस अविकारी आत्मा को, शस्त्राणि=शस्त्रसमूह, न छिन्दन्ति=छिन्न-भिन्न नहीं कर सकते हैं। एनम्=इसको, पावकः=अग्नि, न दहति= दग्ध नहीं कर सकती है। एनम्=इसको, आपः=जल,न क्लेदयन्ति=आर्द्र नहीं बना सकता है। एनम्=इसको मारुतः=वायु, न शोषयति=शुष्क नहीं बना सकता है।।23।।

व्याख्या– इस आत्मा को तलवार, गदा आदि शस्त्र खण्डित नहीं कर सकते हैं, न जल शिथिल कर सकता है, न अग्नि जला सकती है, और न वायु सुखा सकता है।।23।।

विशेष–

1. **'देही'** पदवाच्य नित्य, निरवयव, अविकारी आत्मा देह की भाँति अग्नि आदि भूतों के धर्मों से सर्वथा एवं सर्वदा पृथक् है। देह में स्थित आत्मा का वे कुछ नहीं कर सकते यह श्लोक का भाव है।।23।।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।।24।।

सन्दर्भ– निरयवय आत्मा भौतिक पदार्थों के धर्मों से सर्वथा पृथक् है यह प्रतिपादित किया जा रहा है।

अन्वय– अयम् अच्छेद्यः, अयम् अदाह्यः, अयम् अक्लेद्यः, (तथा) अशोष्यः एव च। अयम् नित्यः, सर्वगतः स्थाणुः अचलः (तथा) सनातनः (अस्ति)।।24।।

पदार्थ– अयम्=यह आत्मा, अच्छेद्यः=छिन्न होने योग्य नहीं है। अयम्=यह, अदाह्यः=दग्ध होने योग्य नहीं है। अयम्=यह क्लिन्न होने योग्य नहीं है तथा अशोष्य एव न=तथा शुष्क होने वाला भी नहीं है। अयम्=यह आत्मा, नित्यः=नित्य अर्थात् अविनाशी, सर्वगतः=सर्वव्यापी, स्थाणुः=स्थिर, अचलः=अपरिवर्तनशील, तथा सनातनः=अनादि है।।24।।

व्याख्या– चूँकि यह आत्मा अनादि, नित्य, सर्वव्यापक,स्थिरस्वभाव और अचल है, इसलिये इसका शस्त्रादि से छेदन, अग्नि से दहन, जल से क्लेदन और वायु से शोषण नहीं हो सकता।।24।।

विशेष–

1. देह से व्यतिरिक्त देही का स्वरूप प्रतिपादन करने के लिये विगत तेईसवें श्लोक में जिन निषेधपरक क्रियाओं का प्रयोग किया है उन्हीं क्रियाओं से निषेधात्मक नामप्रधान पदों की सृष्टि प्रस्तुत श्लोक में हुई है। दोनों श्लोकों का निहितार्थ एक है।।24।।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।

तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥25॥

सन्दर्भ– आत्मज्ञान का उपदेश अर्जुन की शोकनिवृत्ति के लिये है– यह तथ्य प्रकृत श्लोक से पुष्ट होता है।

अन्वय– अयम् (आत्मा) अव्यक्तः, अयम् अचिन्त्यः, अयम् अविकार्यः उच्यते। तस्मात् (त्वम्) एनम् आत्मानम् एवं विदित्वा अनुशोचितुं न अर्हसि।।25।।

पदार्थ–अयम्=यह आत्मा, अव्यक्तः=चक्षुरादि इन्द्रियों से अगोचर, अयम्=यह, अचिन्त्यः=मन से अगोचर, अयम्=यह, अविकार्यः=कर्मेन्द्रियों से भी अगोचर, उच्यते=कहा जाता है। तस्मात्=इस कारण, एनम्=इस आत्मा को, एवं=इस प्रकार, विदित्वा=जानकर, अनुशोचितुं न अर्हसि=तुम शोक नहीं कर सकते हो।।25।।

व्याख्या– प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि–आत्मा लिङ्गशरीर से भिन्न है, अज्ञान से भिन्न है, विकार से शून्य है। इसलिये इसको निष्फल और निष्क्रिय जानकर इसके विषय में शोक नहीं करना चाहिये।।25।।

विशेष–

1. इन्द्रियातीत आत्मा शोक का विषय नहीं है, यह श्लोक का फलितार्थ है।।25।।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।

तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि॥26॥

सन्दर्भ– 'तुष्यतुदुर्जनन्याय' से आत्मा को शरीरधर्मा मानने पर भी हे अर्जुन! तुम्हें आत्मीयजनों के प्रति व्यामोह करना उचित नहीं है,ऐसा श्रीकृष्ण का उपदेश है।

अन्वय– अथ च एवं नित्यजातं मन्यसे, नित्यं मृतं वा (मन्यसे), तथापि हे महाबाहो! त्वम् एवं शोचितुं न अर्हसि।।26।।

पदार्थ– अथ च=इसके बाद भी, एनम्=इसको, नित्यजातं=नित्यजन्म-ग्रहणशील, मन्यसे=मानते हो, वा=अथवा, नित्यं मृतम्=नित्य मरणशील, मन्यसे=मानते हो, तथापि=तो भी, महाबाहो!=हे महाबली!, त्वम्=तुम, एनम्=इसके विषय में, शोचितुम्=शोक करने के लिये, न अर्हसि=शोभायुक्त नहीं हो सकते।।26।।

व्याख्या– यदि उक्त आत्मा को नित्यजात मानते हो, अर्थात् जब-जब देह की उत्पत्ति होती है, तब-तब देह के साथ आत्मा उत्पन्न होता है और देह के साथ वह नित्य मरता है, ऐसा मूढ के समान यदि मानते हो तो भी इस पक्ष में 'अपने बान्धव धृतराष्ट्र के पुत्रों को हमें मारना नहीं चाहिये' इस प्रकार तुम्हें शोक करना उचित नहीं है।।26।।

विशेष–

1. **'महाबाहो!'** इस सम्बोधन के द्वारा अर्जुन के प्रति भगवान् की व्यङ्ग्योक्ति प्रकाशित हो

रही है, क्योंकि अर्जुन महाशक्तिशाली होकर भी साधारण व्यक्ति के सदृश मानसिक दुर्बलतावश शोक कर रहा है।

2. **'अथ च'**– स्वीकार करना या मान लेना इस अर्थ में **'अथ च'** का व्यवहार किया गया है। भ्रान्त धारणा के अनुसार आत्मा को उत्पत्तिशील मानने के तुम्हारे दुराग्रह को मान भी लिया जाय तो भी इस पक्ष के सामने तुम्हारा व्यामोह अनुचित है।।26।।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।

तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥27॥

सन्दर्भ – प्रस्तुत श्लोक द्वारा आत्मा को कथञ्चित् जन्म-मरणशील मानने पर भी शोक क्यों नहीं करना चाहिए, इसे स्पष्ट किया जा रहा है।

अन्वय – हि जातस्य मृत्युः, मृतस्य च जन्म ध्रुवम्। तस्मात् अपरिहार्ये अर्थे त्वं न शोचितुम् अर्हसि।।27।।

पदार्थ – हि = क्योंकि, जातस्य = जन्मशील की, मृत्युः = मृत्यु, ध्रुवः = निश्चित है, मृतस्य च = मृत का भी, जन्म ध्रुवम् = जन्म निश्चित है। तस्मात् = अत एव, अपहिरार्ये अर्थे = अवश्यम्भावी विषय में, त्वम् = तुम, शोचितुं न अर्हसि = शोक नहीं कर सकते।।27।।

व्याख्या – उत्पन्न हुए का मरण ध्रुव अर्थात् अवश्यम्भावी है और मृत का जन्म भी ध्रुव अर्थात् सुनिश्चित है। इसलिए तुमको अपरिहार्य विषय में शोक करना उचित नहीं है।।27।।

विशेष –

1. **'मृत्युः ध्रुवः'**, **'जन्म ध्रुवम्'** – तात्त्विकदृष्टि से आत्मा में उत्पत्ति-विनाश का सिद्धान्त चरितार्थ नहीं होता है किन्तु देहात्मवाद के अनुसार इसकी संगति लगाई जा सकती है।

सांख्ययोग के सत्कार्यवाद के अनुसार जडात्मक वस्तुओं में यह नियम उचित होता है कि पहले से विद्यमान वस्तु ही प्रकाश में आती है और अपनी अभिभूत अवस्था के पश्चात् पुनः प्रादुर्भूत होती है। दिन और रात्रि की भाँति पदार्थों के आविर्भाव और तिरोभाव का सिद्धान्त सांख्ययोग के उत्पत्ति-लय के सिद्धान्त से अनुप्राणित है। देह में स्थित देही में देहगत जन्म-मरण का सिद्धान्त उपचरित होता है। अतः जब तक देह में आत्माभिमान रहता है, तब तक जन्म-मृत्यु का प्रवाह चलता रहता है। अत एव इस प्रकार अपरिहार्य जन्म-मृत्यु के विषय में शोक करना वृथा है। भागवत का वचन है –

मृत्युर्जन्मवतां वीर देहेन सह जायते।

अद्य वाब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः॥

भागवत 10/1/38

हे महाबाहु! तुम्हारे युद्ध से विरत रहने पर भी भीष्म, द्रोण आदि गुरु प्रारब्धकर्म के क्षय होने पर स्वयं ही मृत्यु को प्राप्त होंगे। मृत्यु सबके लिए अवश्यम्भावी है।।27।।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।

अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥28॥

सन्दर्भ – ये भीष्म आदि शब्द के वाच्य सब देह माया के कार्य हैं, अतः असत् हैं। इसलिये 'ये मेरे हैं' ऐसा उनके विषय में कभी शोक न करने का उपदेश श्रीकृष्ण दे रहे हैं।

अन्वय – हे भारत! भूतानि अव्यक्तादीनि व्यक्तमध्यानि तथा अव्यक्तनिधनानि एव। तत्र का परिदेवना।।28।।

पदार्थ – भारत = हे भरतवंशीय अर्जुन! भूतानि = सारे भूत, अव्यक्तादीनि = आदि में अव्यक्त रूप हैं, व्यक्तमध्यानि = मध्य में व्यक्त रूप हैं, तथा = और, अव्यक्तनिधनानि एव = अन्त में अव्यक्त रूप ही हैं। तत्र = अंतः इनके विषय में, का परिदेवना = शोक की बात क्या है?।।28।।

व्याख्या – इन पञ्च भूतों का समष्टिरूप देह पहले अव्यक्त था अर्थात् जन्म के पूर्व नामरूप न रहने के कारण इसकी उपलब्धि नहीं होती थी। जन्म के पश्चात् एवं मृत्यु की पूर्वावस्था तक केवल यह व्यक्त रहता है अर्थात् इसके नामरूप की उपलब्धि होती है एवं मृत्यु के पश्चात् भी यह अव्यक्त हो जायेगा अर्थात् वह अनुपलब्ध रहेगा। अतः जिसका पहले कोई अस्तित्व नहीं एवं बाद में भी कोई अस्तित्व नहीं रहेगा, ऐसे देह के लिए शोक करने में कौन सी युक्ति है?।।28।।

विशेष –

1. **'का परिदेवना'** माया से शरीरों की उत्पत्ति होती है, बीच में आभास से उसका स्वरूप प्रतीत होता है, अंत में माया में उनका लय हो जाता है। अतः विद्वान् पुरुष को उनमें शोक करने का अवकाश ही कहाँ? अतः देहादि के स्वभाव की पर्यालोचना कर देहादि उपाधियों से विशिष्ट आत्मा के जन्म-मरण के विषय में शोक नहीं कहना चाहिये। यह श्लोक का फलितार्थ है।।28।।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।

आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥29॥

सन्दर्भ – प्रस्तुत श्लोक द्वारा दुर्विज्ञेय आत्मा की सर्वजनसुलभता का प्रतिषेध किया जा रहा है।

अन्वय – कश्चिद् एनम् आश्चर्यवत् पश्यति, तथैव च अन्यः आश्चर्यवत् वदति, अन्यः च एनम् आश्चर्यवत् शृणोति श्रुत्वा अपि एनं कश्चित् वेद, (कश्चित्) च न एव (वेद)।।29।।

पदार्थ – कश्चित् = कोई, एनम् = इसको, आश्चर्यवत् = आश्चर्य के समान, पश्यति = देखता है। तथा एव च = और उसी प्रकार, अन्यः = दूसरा कोई, आश्चर्यवत् = आश्चर्य होकर, वदति = बोलता है। अन्यः च = अन्य कोई, एनम् = इसको, आश्चर्यवत् = आश्चर्य होकर, शृणोति = सुनता है। कश्चित् च = और कोई, श्रुत्वा अपि = सुन करके भी, एनम् = इसको, न एव वेद = जानता ही नहीं है।।29।।

व्याख्या – करोड़ों मनुष्यों में से जो कोई इसे जानता है, वह आश्चर्य का जनक होता

है। इस आत्मा का जो श्रवण करता है, वह भी आश्चर्य का कारण है। इस आत्मा के विषय में जो उपदेश करता है, वह भी आश्चर्य का विषय होता है और कोई इस आत्मा का श्रवण, मनन आदि करने पर भी इसे नहीं जानता है।।29।।

विशेष –

1. **'आश्चर्यवत्'** आत्मतत्त्व का जिज्ञासु, श्रोता और वक्ता ये तीनों अत्यन्त दुर्लभ हैं - ऐसा कहते हुए आत्मा की दुर्बोधता का प्रतिपादन किया जा रहा है। हे अर्जुन! नचिकेता सदृश जिज्ञासु, परीक्षित् जैसा श्रोता तथा यम और शुकदेव जैसा आत्मतत्त्व का वक्ता दुर्लभ है। आत्मज्ञान का अधिकारी दुर्लभ है।

2. **'वेद न चैव कश्चित्'** – फिर अधिकारी नहीं होने से सहस्रवार श्रवण करके भी आत्मा को जान नहीं सकता है, यह श्लोक का फलितार्थ है।।29।।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।

तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि।।30।।

सन्दर्भ – भीष्मादि शब्द के लक्ष्यार्थ देही आत्मा के स्वरूप को उपसंहृत करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं।

अन्वय – हे भारत! सर्वस्य देहे अयं देही (आत्मा) नित्यम् अवध्यः (अस्ति)। तस्मात् एवं सर्वाणि भूतानि न शोचितुम् अर्हसि।।30।।

पदार्थ – भारत = हे अर्जुन!, सर्वस्य - सबके, देहे = देह में, अयं देही = यह देही आत्मा, नित्यं अवध्यः = सर्वथा एवं सर्वदा अवध्य (अविनाशी) है। तस्मात् = इस युक्ति से, त्वम् = तुम, सर्वाणि भूतानि = सारे प्राणियों को उद्देश्य करके, शोचितुं न अर्हसि = शोक नहीं कर सकते।।30।।

व्याख्या – हे अर्जुन! देह का विनाश करने पर भी इस देही आत्मा का कभी विनाश नहीं होता। इसलिये इन शरीरों के लिए तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए।।30।।

विशेष –

1. **'देही अवध्यः'** हे आत्मज्ञानसम्पन्न अर्जुन! इस तथ्य को तुम आत्मसात् कर लो कि संसार के यच्च–यावत् प्राणियों के देह आत्मा की उपलब्धि के स्थान हैं, अतः आत्मा को देही कहा जाता है। देहरूप उपाधि में अवस्थित आत्मा समस्त देहों का वध हो जाने पर भी सदा स्वयं अवध्य ही रहता है। जैसे अविकारी होने से, घटों के नष्ट हो जाने पर, उनमें स्थित आकाश नष्ट नहीं होता है, वैसे ही आत्मा स्वयं नष्ट नहीं होता है। इसलिये श्रीकृष्ण आत्मा के अवध्यत्व का स्मरण कराकर भीष्मादि के देह के नाश को लक्ष्य कर अर्जुन को शोकनिवृत्त्यर्थी बना रहे हैं।।30।।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।

धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते।।31।।

सन्दर्भ – आत्मज्ञान कराकर श्रीकृष्ण इस श्लोक से अर्जुन को क्षत्रिय कर्तव्यरूप स्वधर्म में प्रवृत्त कराने का उपदेश करते हैं।

अन्वय – स्वधर्मम् अपि च अवेक्ष्य (त्वं) न विकम्पितुम् अर्हसि। हि धर्म्यात् युद्धात् अन्यत् क्षत्रियस्य श्रेयः न विद्यते।।31।।

पदार्थ – स्वधर्मम् अपि च = और अपने धर्म की ओर भी, अवेक्ष्य = देखकर (त्वम्) तुम, विकम्पितुम् = विचलित, न अर्हसि = नहीं हो सकते हो। हि = क्योंकि, धर्म्यात् युद्धात् = धर्मयुद्ध से, अन्यत् = कुछ और, क्षत्रियस्य = क्षत्रिय के लिये, श्रेयः = कल्याणकारी, न विद्यते = नहीं होता है।।31।।

व्याख्या – हे अर्जुन! अपना धर्म समझकर भी तुम्हें युद्ध से विचलित नहीं होना चाहिए, क्योंकि क्षत्रिय के लिये धर्मप्राप्त युद्ध को छोड़कर दूसरा श्रेयःसाधन अर्थात् कल्याणकर मार्ग नहीं है।।31।।

विशेष –

1. **'धर्म्याद्धि युद्धात्'** – इसका अभिप्रेत अर्थ यह है – हे अर्जुन! **'युद्धं स्वधर्मो नृपतेः प्रजानां परिपालनम्'** अर्थात् 'युद्ध और प्रजापालन राजा का स्वधर्म है' इत्यादि शास्त्रोक्त स्वधर्म (युद्ध) क्षत्रिय के लिए कर्तव्यरूप से विहित है, अपनी बुद्धि से ऐसा विचार कर स्वधर्म से विचलित नहीं होना चाहिए। इससे यह सूचित होता है कि स्वधर्म के कारण कर्तव्यरूप से प्राप्त हुए युद्ध में यज्ञ की भाँति - शोक, मोह और हिंसा आदि दोष का विचार तत्त्वज्ञानी राजन् को नहीं करना चाहिए।

2. **'हि'** – इस अव्यय के प्रयोग से यह सूचित किया गया है कि 'जो शूर रण में युद्ध करते हैं, वे स्वर्ग को प्राप्त करते हैं। वचन इस प्रकार है – **'ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरास'**ः।।31।।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।

सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्।।32।।

सन्दर्भ – अयाचित धर्मयुद्ध क्षत्रिय के सौभाग्य का सूचक है, ऐसा श्लोक के द्वारा बतलाया जा रहा है।

अन्वय – हे पार्थ! यदृच्छया च उपपन्नम् अपावृतं स्वर्गद्वारम् (इव) ईदृशं युद्धं सुखिनः क्षत्रियाः लभन्ते।।32।।

पदार्थ – हे पार्थ = हे पृथापुत्र अर्जुन! यदृच्छया च = अयाचितभाव से अनायास ही, उपपन्नम् = उपस्थित, अपावृतम् = उन्मुक्त, स्वर्गद्वारम् = स्वर्ग के द्वार के समान, ईदृशं युद्धम् = इस प्रकार का युद्ध, सुखिनः = सौभाग्यवान्, क्षत्रियाः = क्षत्रियगण, लभन्ते = प्राप्त करते हैं।।32।।

व्याख्या – अपने से उपस्थित स्वर्गद्वार की तरह अर्थात् अनायास स्वर्गलाभ का उपायभूत ऐसा युद्ध भाग्यशाली क्षत्रियों को ही प्राप्त होता है।।32।।

विशेष –

1. **यदृच्छया** – इस का अयाचित, अप्रार्थित, अकल्पित, अर्थ है।

2. **ईदृशम्** – यह इस प्रकार का युद्ध है, जिसमें भीष्म, द्रोणादि वीर पुरुष प्रतिद्वन्द्वी हैं एवं जिस युद्ध में विजय कीर्ति और राज्यप्राप्ति का निमित्त बनेगा और पराजय स्वर्गप्राप्ति का। ऐसा युद्ध मंगलकामना का द्योतक है।।32।।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।

ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥33॥

सन्दर्भ – स्वधर्मपालन में प्रमाद करने से महापातक होता है, ऐसा बतलाकर श्रीकृष्ण अर्जुन को धर्मशास्त्रीय कर्त्तव्य-परम्परा का स्मरण कराते हैं।

अन्वय – अथ चेत् त्वम् इमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापम् अवाप्स्यसि।।33।।

पदार्थ – अथ = इसके बाद, चेत् = यदि, त्वम् = तुम, इमम् = इस, धर्म्यम् = धर्ममूलक, संग्रामम् = युद्ध को, न करिष्यसि = नहीं करोगे, ततः = तो इससे, स्वधर्मम् = स्वकर्तव्य, कीर्तिं च = और कीर्ति को, हित्वा = त्याग करके, पापम् = पाप को, अवाप्स्यसि = प्राप्त करोगे।।33।।

व्याख्या – (इतनी उपदेशमाला के पश्चात् भी) यदि तुम पूर्ववर्णित धर्मशास्त्रसम्मत युद्ध में प्रवृत्त नहीं होगे तो युद्धनिवृत्ति से तुम अपने धर्म और कीर्ति को शिथिल कर पाप के भागी बनोगे।।33।।

विशेष –

1. धर्मशास्त्र के अनुसार स्वधर्मपालन से च्युत व्यक्ति प्रत्यवाय का भागी बनता है, यह श्लोक का फलितार्थ है।

2. **'पापम्'** इस पद के द्वारा अनर्थपरम्परा ध्वनित है।।33।।

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।

संभावितस्य चाऽकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते॥34॥

सन्दर्भ – प्रस्तुत श्लोक द्वारा अकीर्ति को मृत्युसम प्रतिपादित किया जा रहा है।

अन्वय – अपि च भूतानि ते अव्ययाम् अकीर्तिं कथयिष्यन्ति। सम्भावितस्य अकीर्तिः मरणात् च अतिरिच्यते।।34।।

पदार्थ – अपि च = और भी, भूतानि = सारे लोग, ते = तुम्हारी, अव्ययाम् = चिरकालव्यापिनी अकीर्तिम् = अकीर्ति को, कथयिष्यन्ति = कहते रहेंगे। सम्भावितस्य = सम्मानित पुरुष का, अपकीर्तिः = अपयश, मरणात् च = मृत्यु से भी, अतिरिच्यते = बढ़कर होता है।।34।।

व्याख्या – सब मनुष्य सभा में बैठकर तुम्हारी चिरस्थायिनी दुष्कीर्ति की चर्चा करेंगे, पूज्य पुरुष की अकीर्ति मरण से भी बढ़कर दुःखकारी होती है।।34।।

विशेष –

1. **'भूतानि'** पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश का समष्टिभूत शरीर पाञ्चभौतिक

कहलाता है। अतः 'भूत' शब्द पाञ्चभौतिक शरीरधारी व्यक्ति का वाचक है।

2. **'संभावितस्य'** यहाँ सम्भावित पद बहुमान्य व्यक्ति के अर्थ में प्रयुक्त है। धर्मात्मा, सत्यप्रतिज्ञ, प्रशंसित व्यक्ति श्रेष्ठजन की कोटि में आते हैं। सम्भावित व्यक्ति के लिये दुष्कीर्ति की अपेक्षा मृत्यु शतगुण श्रेयस्कर है।।34।।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।

येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्।।35।।

सन्दर्भ – दुष्कीर्ति तिरस्कार की जननी है, इसे उपपादित किया जा रहा है।

अन्वय – महारथाः त्वां भयात् रणात् उपरतं मंस्यन्ते। येषां च त्वं बहुमतः भूत्वा (तेषाम्) लाघवं यास्यसि।।35।।

पदार्थ – महारथाः = महारथी लोग, त्वाम् = तुमको, भयात् = भयभीत होने के कारण, रणात् = युद्ध से, उपरतम् = पराङ्मुख, मंस्यन्ते = समझेंगे। येषां च त्वम् = और जिनके सामने तुम, बहुमतम् = सम्मान के पात्र, भूत्वा = होकर (भी), लाघवम् = लघुता को, यास्यसि = प्राप्त होगे।।35।।

व्याख्या – बाह्लीक, भगदत्त आदि महारथी यह सोचेंगे कि अर्जुन भय के मारे भाग गया। पहले जिनके द्वारा तुम अत्यधिक सम्मानित होते थे, इस समय वे ही तुम्हारा अपमान करेंगे।।35।।

विशेष –

1. **'बहुमतः'** – शौर्य, धैर्य और युद्ध चातुर्य आदि गुणों में श्रेष्ठ होने के कारण अर्जुन कौरवों में सम्मानित समझे जाते रहे।

2. **'लाघवं'** यह पद अनादरसूचक है। पीठ पीछे के तिरस्कार को अकीर्ति कहते हैं और सामने के तिरस्कार को लघुकृति कहते हैं। अकीर्ति और लाघव इन दोनों शब्दों में यही भेद है। कथन का अभिप्राय यह है कि स्वधर्म से, शास्त्रविहित आचरण से तथा नीति का आचरण न करने से भ्रष्ट व्यक्ति केवल पाप का भागी ही नहीं होता है अपितु अनेक गुणों से युक्त होने पर भी वह गुरु की दृष्टि से, शास्त्र की दृष्टि से, कुटुम्बियों एवं सामाजिकों की दृष्टि से और यहाँ तक कि अपनी दृष्टि से भी लघुता (हेयता) का अनुभव करता है। इस प्रकार अश्रद्धा तथा परिहास का पात्र बनता है।।35।।

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाऽहिताः।

निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्।।36।।

सन्दर्भ – प्रस्तुत श्लोक द्वारा निन्दावाक्य की असहनीयता प्रतिपादित हो रही है।

अन्वय – तव अहिताः च तव सामर्थ्यं निन्दन्तः बहून् अवाच्यवादान् च वदिष्यन्ति। ततः किं नु दुःखतरं (स्यात्)।।36।।

पदार्थ – तव = तुम्हारे, अहिताः च = शत्रु लोग भी, तव = तुम्हारे, सामर्थ्यम् = सामर्थ्य की, निन्दन्तः = निन्दा करते हुए, बहून् = अनेक, अवाच्यवादान् = न बोलने योग्य बातें, वदिष्यन्ति

=बोलेंगे। ततः=इससे, दुःखतरम्=अधिक दुःखप्रद, किं नु=और क्या हो सकता है?।।36।।

व्याख्या – दुर्योधन, कर्ण, विकर्ण आदि शत्रुजन युद्ध से पराङ्मुख तुम्हारे पौरुष की निन्दा करते हुए भगोड़ा और धिक्कारसूचक अनेक प्रकार के अप्रिय शब्दों का प्रयोग करेंगे। उन कर्णभेदी मर्मघाती दुष्ट वचनों से बढ़कर अभिमानी शूर क्षत्रिय के लिये और अधिक दुःख क्या है? इससे अधिक दुःखदायी स्थिति कोई नहीं है, यह भाव है।।36।।

विशेष –

1. **'अवाच्यवादान्'** – 'कापुरुष' आदि अकथ्य शब्दों को अवाच्य कहा गया है।

2. **दुःखतरं किम्** – अर्जुन में अभी भी कर्त्तव्याभिमान है। उसे अपनी बुद्धि और विचार के ऊपर विश्वास है। इसलिये युद्धत्याग करने से लौकिक दृष्टि से अर्जुन को क्या हानि होगी, यह स्मरण कराते हैं।36।।

UGST - 07

संस्कृत

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

खण्ड - दो (भाग-दो)

श्रीमद्भगवद्गीता

चतुर्थ - इकाई 5

द्वितीय अध्याय 37-72 श्लोक

पंचम - इकाई 31

तृतीय अध्याय 1-23 श्लोक

षष्ठ - इकाई 46

तृतीय अध्याय 24-43 श्लोक

परामर्श-समिति

प्रो0 केदार नाथ सिंह यादव	कुलपति - अध्यक्ष
डॉ0 हरीशचन्द्र जायसवाल	कार्यक्रम - संयोजक
श्री मिठाई लाल कनौजिया	कुलसचिव - सचिव

विशेषज्ञ-समिति

1- प्रो0श्री नारायण मिश्र	सेवानिवृत्त प्रोफेसर, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
2- प्रो0 युगल किशोर मिश्र	संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी
3- प्रो0 हरे राम त्रिपाठी	म0 गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी
4- प्रो0 श्रीकिशोर मिश्र	काशी हिन्दू विश्विद्यालय, वाराणसी

सम्पादक

प्रो0 के0 पी0 सिंह वरिष्ठ परामर्शदाता (संस्कृत)

लेखिका

प्रो0 विमला कर्णाटक काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

उत्तर प्रदेश राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की ओर से श्री डी.पी.त्रिपाठी, कुलसचिव द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित, सितम्बर, 2016

मुद्रक- चन्द्रकला यूनिवर्सल प्राइवेट लिमिटेड, 42/7 जवाहरलाल नेहरू रोड, इलाहाबाद

पाठ्यक्रम-परिचय

भगवद्गीता के तृतीय अध्याय में 'कर्मयोग' का वर्णन है। ज्ञानयोग की निष्पत्ति में कर्मयोग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अतः तृतीय अध्याय में श्रीकृष्ण ने कर्मयोग की महत्ता प्रतिपादित करते हुए उसके कर्म-अकर्म-विकर्म तीन भेद किये हैं। भगवद्गीता जिस निष्कामकर्मयोग के प्रतिपादन के लिये सुप्रतिष्ठित है, उसका विवेचन गीता के तृतीय अध्याय में हुआ है। भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय में बहत्तर श्लोक हैं तथा तृतीय अध्याय में तिरालिस। भगवद्गीता के अध्ययन से 'जीवन-शैली' का मार्ग प्रशस्त हुआ है। अतः भगवद्गीता को ब्रह्मविद्या का प्रयोगशास्त्र कहते हैं।

चतुर्थ इकाई (द्वितीय अध्याय 37-72 श्लोक)

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।

तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः।। 37।।

सन्दर्भ – जय - पराजय की उभय स्थितियों को विश्लेषित करते हुए श्रीकृष्ण गीता के 2/6 श्लोक में अर्जुन द्वारा कथित संशय की निवृत्ति करते हैं।

अन्वय – त्वं हतः वा स्वर्गं प्राप्स्यसि। जित्वा वा महीं भोक्ष्यसे। तस्मात् हे कौन्तेय! युद्धाय कृतनिश्चयः (सन्)उत्तिष्ठ।।37।।

पदार्थ – त्वम्=तुम, हतः वा=यदि मारे गये तो, स्वर्गं प्राप्स्यसि=स्वर्ग प्राप्त करोगे। जित्वा वा=यदि तुम जीतते हो तो, महीम्=पृथ्वी को, भोक्ष्यसे=भोग सकोगे। तस्मात्=इसलिये, हे कौन्तेय=कुन्तीपुत्र, युद्धाय=युद्ध के लिये, कृतनिश्चयः=दृढ़संकल्प होकर, उत्तिष्ठ= उठो।।37।।

व्याख्या – यदि युद्ध में मर जाओगे तो स्वर्ग मिलेगा और जीतोगे तो सारी पृथ्वी का उपभोग करोगे। अतः हे कौन्तेय! युद्ध का निश्चय करके तैयार हो जाओ।।37।।

विशेष –

1. **'उत्तिष्ठ'** – 'क्रियापद उपदेश का विषयसार है। युद्ध करने से गुरु आदि का वध होने के कारण 'शिष्टनिन्दा' होगी और युद्ध न करने से 'शत्रुनिन्दा होगी - यों दोनों ही स्थितियों में निन्दारूप दुःखदायी फल ही प्राप्त होने वाला है, हे अर्जुन! तुम्हारी ऐसी सोच शास्त्रविरुद्ध है। यथार्थ स्थिति ऐसी है – युद्ध क्षत्रिय का स्वधर्म है। अतः याग से पशु हिंसा की भाँति गुरु आदि की हिंसा स्वधर्म ही है। इसलिये न तो शिष्टनिन्दा है और न शत्रुनिन्दा है। इस प्रकार युद्ध से जय में और पराजय में तो इष्टफल ही प्राप्त होता है, ऐसा निश्चित जानों, यह श्लोक का फलितार्थ है।।37।।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।

ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।।38।।

सन्दर्भ – भावना के भेद से क्रिया के फल का भेद होता है, इसे उपपादित किया जा रहा है।

अन्वय – सुखदुःखे लाभालाभौ जयाजयौ समे कृत्वा ततः युद्धाय युज्यस्व। एवं पापं न अवाप्स्यसि।।38।।

पदार्थ – सुखदुःखे=सुख और दुःख को, लाभालाभौ=लाभ और हानि को, जयाजयौ =जय और पराजय को, समे कृत्वा=समान समझकर, युद्धाय=युद्ध के लिये, युज्यस्व=सन्नद्ध हो जाओ। ततः=ऐसा करने पर, एवम्=इस प्रकार, पापम्=पाप को, न अवाप्स्यसि=न प्राप्त हो सकोगे।।38।।

व्याख्या – सुख-दुःख, लाभ-हानि एवं जय-पराजय को समान समझकर युद्ध में प्रवृत्त होओ। ऐसा करने से तुम्हें पाप नहीं लगेगा।।38।।

विशेष-

1. **'न पापमवाप्स्यसि'** – इस श्लोकांश को व्याख्यायित करने के लिये शास्त्रीय पक्ष यह है – जैसे स्वर्ग की इच्छा से किया हुआ ज्योतिष्टोम यज्ञ स्वर्ग का हेतु होता है और इच्छा के विना किया हुआ यज्ञ चित्तशुद्धि का कारण होता है। वैसे ही प्रजापालन और दान की कामना से किया हुआ युद्ध स्वर्गादि फल का हेतु होता है और निष्कामभाव से किया हुआ युद्ध चित्त की शुद्धि का कारण होता है। हे अर्जुन! यदि तुम श्रेय की कामना वाले हो तो अकामनापूर्वक युद्ध करो। इस प्रकार भावना के भेद से युद्ध के फल का भेद होता है। यह श्लोक का फलितार्थ है।।38।।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।

बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥39॥

सन्दर्भ – प्रस्तुत श्लोक द्वारा ज्ञान के विना कर्मबन्ध की निवृत्ति नहीं होती है, इसे उपपादित किया जा रहा है।

अन्वय – हे पार्थ! एषा सांख्ये बुद्धिः ते अभिहिता। यया बुद्ध्या युक्तः (सन्) कर्मबन्धं प्रहास्यसि। (ताम्) इमां तु योगे (बुद्धिम्) शृणु।।39।।

पदार्थ – पार्थ = हे पार्थ!, एषा = वह, सांख्ये = परमार्थ तत्त्वज्ञान के विषय में, बुद्धिः = ज्ञान, ते = तुमसे, अभिहिता = कहा गया। यया = जिस, बुद्ध्या = ज्ञान के द्वारा, युक्तः = योगयुक्त होकर, कर्मबन्धम् = कर्मबन्धन को, प्रहास्यसि = त्याग सकोगे। इमां तु योगे = इस निष्काम कर्मयोग के विषय में अगला उपदेश, शृणु = सुनो।।39।।

व्याख्या – तुमसे जो यह बुद्धि कही है,वह सांख्यबुद्धि परब्रह्मविषयिणी बुद्धि है। अब तुम कर्मयोगबुद्धि को सुनो। जिस बुद्धि को प्राप्त कर समस्त कर्मबन्धनों से मुक्त हो सकोगे।।39।।

विशेष –

1. ज्ञानयोग का उपदेश कर हे अर्जुन! अब तुम्हें कर्मयोग के विषय में बतलाता हूँ, यह श्लोक द्वारा सूचित होता है।

2. **'तु'** – ज्ञानाधिकारी से कर्माधिकारी विलक्षण है, यह सूचित करने के लिए **'तु'** अव्यय का प्रयोग हुआ है।

विषयसार यह है – जिसके द्वारा वस्तुतत्त्व सम्यक् रूप से प्रकाशित होता है, उसका नाम है संख्या या सम्यग्ज्ञान। उस सम्यग्ज्ञान से जो आत्मतत्त्व प्रकाशित होता है उसे सांख्य कहते हैं। शब्दान्तर में आत्मतत्त्वविषयक ज्ञान 'सांख्ययोग' कहलाता है। हे अर्जुन! जिसे आत्मतत्त्व के विषय में अपरोक्ष ज्ञान नहीं हो पाता उसे 'कर्मयोग'का उपदेश किया जाता है। परमेश्वरार्पित कर्मयोग के द्वारा अन्तःकरण के शुद्ध होने पर साधक को ईश्वर के प्रसादरूप से अपरोक्षज्ञान की प्राप्ति होती

है। जिससे वह कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार सांख्ययोग और कर्मयोग परस्पर आबद्ध हैं।।39।।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥40॥

सन्दर्भ – प्रस्तुत श्लोक में मुमुक्षु की प्रवृत्ति के लिए निष्कामकर्मयोग की स्तुति की जा रही है।

अन्वय – इह अभिक्रमनाशः न अस्ति। (तथा) प्रत्यवायः न विद्यते। अस्य धर्मस्य स्वल्पम् अपि महतः भयात् त्रायते।।40।।

पदार्थ – इह = इस निष्काम कर्मयोग में, अभिक्रमनाशः = प्रारम्भ की विफलता, न अस्ति = नहीं होती है। (तथा) इसी प्रकार, प्रत्यवायः = पाप, न विद्यते = नहीं होता है। अस्य धर्मस्य = इस धर्म का, स्वल्पमपि = बहुत थोड़ा भी, महतः भयात् = महाभय से, त्रायते = त्राण करता है।।40।।

व्याख्या – निष्काम कर्मयोग से कर्म का प्रारम्भ निष्फल नहीं होता है एवं प्रत्यवाय भी नहीं होता है। किन्तु इस धर्म का स्वल्प अंश भी बड़े भारी भय से रक्षा करता है।।40।।

विशेष –

1. **'अभिक्रमनाशः नास्ति'** – जिसका एक मोक्ष ही प्रयोजन है, ऐसे मोक्षार्थी का कर्मयोग निष्फल नहीं होता है। जैसे भोजन करने से तृप्ति अवश्य होती है, वैसे ही निष्काम कर्म से अवश्य मुक्ति मिलती है। कृषि आदि व्यापार का आरम्भ करने पर कहीं फल प्राप्त होता है, कहीं नहीं होता है, ऐसा यह नहीं है। यह तो भोजन के समान नियम से फलयुक्त ही होता है।

2. **'न प्रत्यवायः'** निष्काम कर्मयोग से अनिष्ट की प्राप्ति भी नहीं है। अभिप्राय यह है कि चिकित्सक की असावधानता के कारण यदि रोगी के रोग की वृद्धि या उसकी मृत्यु हो जाती है तो चिकित्सक को प्रत्यवाय होता है, किन्तु निष्काम कर्मयोग का अनुष्ठान करने पर प्रत्यवाय नहीं होता है। राजा की आज्ञा के पालनकारी को जिस प्रकार कोई पाप नहीं होता है, उसी प्रकार ईश्वर की प्रेरणा से ईश्वर के लिये ही कर्म करने पर सम्भावित स्खलन अनर्थकारी नहीं होता है अर्थात् प्रत्यवाय नहीं होता है। इस प्रकार फल की कामना से रहित जो कर्म किया जाता है, वह बन्धन का कारण भी नहीं होता है। इस प्रकार कर्म की स्तुति है।।40।।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥41॥

सन्दर्भ – श्रीकृष्ण व्यवसायात्मिका तथा अव्यवसायात्मिका बुद्धि का मौलिक अंतर बतलाते हुए अर्जुन को उपदेश दे रहे हैं।

अन्वय – हे कुरुनन्दन! इह व्यवसायात्मिका बुद्धिःएका। अव्यवसायिनां बुद्धयः हि बहुशाखाः अनन्ताः च।।41।।

पदार्थ – कुरुनन्दन! = हे कुरुनन्दन, इह = इस निष्काम कर्मयोग में, व्यवसायात्मिका = निश्चयात्मिका, बुद्धिः = ज्ञान, एका = एक लक्ष्यपरक होती है। (दूसरी ओर) अव्यवसायिनाम् = ईश्वरविमुखों की अर्थात् निश्चयात्मिका बुद्धिसम्पत्ति से विरहित सामान्य लोगों की, बुद्धयः = बुद्धियाँ, बहुशाखाः = बहुत शाखाओं वाली, अनन्ताः च = और अनन्त दिशाओं में धावन करने वाली होती हैं।।41।।

व्याख्या – हे कुरुनन्दन! इस निष्काम कर्मयोग में प्रवृत्त मुमुक्षु की 'ईश्वर ही मेरी परम गति है' इस प्रकार की निश्चयप्रधाना बुद्धि बाहर और भीतर एक ही रहती है और विषयी पुरुषों की शंकापरायणा बुद्धियाँ अनेक शाखाओं वाली होने के कारण अनेक प्रकार की होती हैं।।41।।

विशेष –

1. **व्यवसायात्मिका बुद्धिः एका** – ईश्वराराधनरूप कर्मयोग में 'परमेश्वर में भक्ति द्वारा निश्चय ही उद्धार होगा' इस प्रकार की निश्चयात्मिका एकनिष्ठा अन्तर्मुखी बुद्धि विक्षेपरहित होती है।

2. **अव्यवसायिनां बुद्धयः बहुशाखाः** – अनिश्चयात्मिका अनेकविषयनिष्ठा बहिर्मुखी बुद्धि विक्षेपप्रधान होती है।

अभिप्राय यह है कि मन दो प्रकार का कहा गया है – शुद्ध और अशुद्ध। अशुद्ध मन काम और बाह्यविषय के चिंतन से युक्त होता है अतः उसे व्युत्थित चित्त कहते हैं। शुद्ध चित्त बाह्य विषय की कामना से रहित होता है, अतः उसे एकाग्र चित्त कहते हैं। वचन है –

मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च।

अशुद्धं कामसंकल्पं शुद्धं कामविवर्जितम्॥41॥

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।

वेदवादरताः पार्थ नाऽन्यदस्तीति वादिनः॥42॥

सन्दर्भ – प्रस्तुत श्लोक में कामी पुरुषों का स्वभाव वर्णित है।

अन्वय – हे पार्थ! अविपश्चितः वेदवादरताः अन्यत् च अस्ति इति वादिनः याम् इमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्ति।।42।।

पदार्थ – हे पार्थ = हे अर्जुन!, अविपश्चितः = अज्ञानीजन, वेदवादरताः = वेद के कर्मकाण्डीय अर्थवाद में आसक्त पुरुष, अन्यत् न अस्ति = स्वर्गफलप्रापक कर्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, इति वादिनः = ऐसा कथन करने वाले, याम् = जिस, इमां पुष्पिताम् = पुष्पित विषलता के समान आपातरमणीय, वाचम् = वाणी को, प्रवदन्ति = बोलते हैं।।42।।

व्याख्या – हे पार्थ! कर्म और कर्मफल के प्रशंसक वेदवाक्यों में प्रीति रखने वाले, वेद के परम तात्पर्य को न जानने वाले और कर्म से अतिरिक्त मोक्ष, ईश्वर आदि कुछ नहीं है, ऐसा कहने वाले विवेकरहितजन इस वक्ष्यमाणलक्षण आपातरमणीय वचन को कहते हैं।।42।।

विशेष –

1. **'वेदवादरताः'** – जो कहे जाते हैं वे 'वाद' अर्थात् वाक्य हैं, वेद के जो वाक्य हैं उन्हें 'वेदवाद' कहते हैं। किञ्च वेद के अर्थवाक्यों में ही निष्ठा = आसक्ति रखने वालों को **'वेदवादरत'** कहते हैं। वेद के निहितार्थ को न समझने वाले कुपुरुष वेदवादरत कहे गये हैं।

2. **'अविपश्चितः'** – वेद के उपक्रम, उपसंहार आदि तात्पर्य से अनभिज्ञ बहिर्मुख मीमांसक को अविपश्चित् कहा गया है।

3. **'पुष्पितां वाचम्'** – फलशून्य पुष्पों से रञ्जन करने वाली अर्थहीन वाणी को पुष्पित वाणी कहा गया है।।42।।

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।

क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति।।43।।

सन्दर्भ – प्रस्तुत श्लोक में कामी पुरुषों की आपातरमणीय वाणी को व्याख्यायित किया जा रहा है।

अन्वय– कामात्मानः स्वर्गपराः जन्मकर्मफलप्रदां भोगैश्वर्यगतिं प्रति क्रियाविशेषबहुलां (वाचं प्रवदन्ति)।।43।।

पदार्थ – कामात्मानः = कामपरायण, स्वर्गपराः = स्वर्ग प्राप्ति ही जिनका पुरुषार्थ है ऐसे अज्ञजन, जन्मकर्मफलप्रदाम् = जन्म-कर्मरूप फल को देने वाली, भोगैश्वर्यगतिं प्रति = भोग और ऐश्वर्यपरक, क्रियाविशेषबहुलाम् = क्रियाप्रधान, (वाचं प्रवदन्ति) वाणी को बोलते हैं।।43।।

व्याख्या – स्वर्ग को ही परम पुरुषार्थ मानने वाले विषयी पुरुष केवल विषयों के ऊपर आधिपत्य प्राप्त हो, इसलिये अग्निष्टोम आदि अनेक कर्मों की प्रतिपादक अत एव जन्म, जरा आदि फल को ही देने वाली वाणी को कहते हैं।।43।।

विशेष –

1. **'स्वर्गपराः'** स्वर्ग ही परम पुरुषार्थ है, ऐसा जो मानते हैं उन्हें **'स्वर्गपराः'** कहा गया है।

2. **'भोगाः'** भुज्यन्त इति भोगाः अर्थात् जिनका उपयोग किया जाता है, वे भोग कहलाते हैं, जैसे स्त्री, चन्दन आदि।

3. **'वाचं प्रवदन्ति'** विगत श्लोक में प्रयुक्त क्रिया का यहाँ अन्वय किया जाता है।।43।।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयाऽपहृतचेतसाम्।

व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते।।44।।

सन्दर्भ – प्रस्तुत श्लोक में तमोगुणप्रधान विक्षिप्त चित्त को समाधि के लिये अयोग्य

बतलाया जा रहा है।

अन्वय – तया अपहृतचेतसां भोगैश्वर्यप्रसक्तानां समाधौ व्यवसायात्मिका बुद्धिः न विधीयते।।44।।

पदार्थ – तया = इस कारण से, अपहृतचेतसाम् = मोहित चित्त वालों के, भोगैश्वर्यप्रसक्तानाम् = भोगैश्वर्य में आसक्त चित्त वालों के, समाधौ = अन्तःकरण में, व्यवसायात्मिका = निश्चयात्मिका, बुद्धिः = प्रज्ञा, न विधीयते = प्रवेश नहीं करती है।।44।।

व्याख्या – पुष्पित वाक्यों के कारण विषयों में आसक्ति रखने वाले और जिनका चित्त विषयों से अपहृत हुआ है, ऐसे पुरुषों के अन्तःकरण में व्यवसायात्मिका बुद्धि प्रविष्ट नहीं होती है।।44।।

विशेष –

1. विषयों की आशा से भ्रमित बुद्धि वालों को अपहृतचित्त कहते हैं। भोग्य पदार्थ और उनके स्वामित्व में अभिनिवेश रखने वालों को भोगैश्वर्यप्रसक्त कहते हैं। ऐसी अनिश्चयात्मिकता बुद्धि वाला व्यक्ति समाधि नहीं लगा पाता है।।44।।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥45॥

सन्दर्भ – प्रस्तुत श्लोक में मुमुक्षु को त्रिगुणरहित होने का उपदेश किया जा रहा है।

अन्वय – हे अर्जुन! वेदाः त्रैगुण्यविषयाः (सन्ति)। त्वं निस्त्रैगुण्यः निर्द्वन्द्वः नित्यसत्त्वस्थः निर्योगक्षेमः आत्मवान् भव।।45।।

पदार्थ – हे अर्जुन! = हे कुन्तीपुत्र!, वेदाः = सारे वेद, त्रैगुण्यविषयाः = त्रिगुणविषयक हैं अर्थात् उनमें त्रिगुणात्मक सकाम अधिकारियों के लिये कर्मफलसम्बन्धी संसार का ही प्रतिपादन है। त्वम् = तुम, निस्त्रैगुण्यः = निष्काम अर्थात् ईश्वरपरायण, भव = बनो। (इसके लिये) निर्द्वन्द्वः = सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से रहित, नित्यसत्त्वस्थः = प्रवृद्ध सत्त्वशाली, निर्योगक्षेमः = योगक्षेमरहित होकर, आत्मवान् = अप्रमत्त, भव = बनो।।45।।

व्याख्या – समस्त वेद संसारविषयक ही हैं। अतः हे अर्जुन! तुम राग-द्वेष आदि से शून्य हो जाओ एवं निर्द्वन्द्व, सदा सत्त्वसम्पन्न, योग और क्षेम से रहित और आत्मवान् बन जाओ।।45।।

विशेष –

1. **'त्रैगुण्यविषयाः'** – सत्त्व-रज-तम, सुख-दुःख-मोह, जाति-आयु-भोग का समाहार (समूह) रूप यह संसार **'त्रैगुण्य'** है। संसार ही जिनका विषय है वह त्रैगुण्यविषय है। ऐसे त्रैगुण्यविषयक वेद हैं। इस प्रकार सारे वेद त्रिगुणात्मक हैं। अर्थात् जो सकाम अधिकारी हैं उनके कर्म और कर्मजनित फलों का प्रतिपादन वेद में है।

2. **'निस्त्रैगुण्यः** – यद्यपि वेदप्रतिपादित होने से त्रैगुण्यरूप संसार सामान्यजन के लिये

तो उपादेय है, किन्तु मोक्षार्थी के लिए नहीं। हे अर्जुन! तुम मोक्ष की इच्छा से योगबुद्धि से युक्त स्वधर्म में प्रवृत्त हुए हो, अतः तुम निस्त्रैगुण्य अर्थात् ईश्वराभिमुख बनो।

3. **'निर्द्वन्द्वः'** – सुख-दुःख, जय-पराजय, मान-अपमान, शीत-उष्ण, शत्रु-मित्र आदि परस्पर–विरोधी युग्म से निर्गत होओ। ये द्वन्द्व तुम्हें विचलित न कर सकें।

4. **'नित्यसत्त्वस्थः'** सदा सत्त्वगुण का जो आश्रयण करता है, उसे नित्यसत्त्वस्थ कहते हैं।

5. **'निर्योगक्षेमः'** अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति को 'योग' तथा प्राप्त वस्तु की रक्षा को **'क्षेम'** कहते हैं। इस प्रकार योगक्षेम में तत्पर पुरुष को राग-द्वेष का प्रसंग प्राप्त होता है, इससे आत्मसाक्षात्कार के शमादि गुण उसमें प्रादुर्भूत नहीं होते हैं और मोक्ष की प्राप्ति भी नहीं होती है। इसलिये अर्जुन को निर्योगक्षेम बनने का उपदेश किया गया।

6. **'भव आत्मवान्'** 'आत्मा' ब्रह्माकार बुद्धि वाले को कहते हैं, ऐसा बुद्धियुक्त व्यक्ति आत्मवान् कहलाता है। अर्थात् अहं बुद्धि का विषय सदा आत्मा ही हो, न कि अनात्मविषय। हे अर्जुन ब्रह्मनिष्ठा में कभी प्रमाद मत करो। आत्मज्ञानी बनो, यह श्लोक का फलितार्थ है।।45।।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।

तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।।46।।

सन्दर्भ – ब्रह्मवित् को सभी आनन्द प्राप्त होते हैं, इसका दृष्टान्त के साथ प्रतिपादन किया जा रहा है।

अन्वय – उदपाने यावान् अर्थः सर्वतः संप्लुतोदके तावान् अर्थः (भवति)। एवं सर्वेषु वेदेषु यावान् अर्थः, तावान् विजानतः ब्राह्मणस्य (भवति)।।46।।

पदार्थ – उदपाने = क्षुद्र जलाशय में, यावान् = जितना, अर्थः = प्रयोजन सिद्ध होता है, सर्वतः = सब ओर से, संप्लुतोदके = जल द्वारा पूरित बृहत् जलाशय में, तावान् = उतना ही, अर्थः = प्रयोजन सिद्ध होता है। एवम् = इसी प्रकार, सर्वेषु = समस्त, वेदेषु = वेदों में कथित, तावान् अर्थः = वे ही सब प्रयोजन, विजानतः = ब्रह्मज्ञ, ब्राह्मणस्य = ब्राह्मण को, (भवति) प्राप्त होता है।।46।।

व्याख्या – जैसे पृथिवी पर स्थित वापी, कूप, तालाब, नदी आदि पुण्य तीर्थों में स्नानादि क्रिया से जितना पुण्य होता है, उतना पुण्य सर्वत्र व्याप्त जल वाले समुद्र में स्नानादि क्रिया से होता ही है। वैसे ही सब वेदों में कथित यज्ञादि पुण्यों से जितना आनन्द होता है, उससे कहीं अधिक आनन्द ज्ञानवान् ब्राह्मण को होता ही है।।46।।

विशेष –

1. इस श्लोक के अवतरण में यह आशंका छिपी हुई है कि वेदोक्त नाना प्रकार के फलों का त्याग कर निष्काम भाव से ईश्वराराधनविषयिणी व्यवसायात्मिका बुद्धि कुबुद्धि है, क्योंकि इससे अनेक सुखों से वंचित होना पड़ता है?

इसका समाधान पक्ष यह है कि जिसमें जलपान किया जाता है, ऐसे वापी, कूप, तडागादि क्षुद्र जलाशयों में एक साथ स्नान, पानादि प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकते हैं, किन्तु महाह्रद अर्थात् झील से वे सारे प्रयोजन एक साथ सम्पन्न हो सकते हैं। इसी प्रकार सब वेदों में नाना प्रकार के कर्म और उनके अनेक प्रयोजन वर्तमान रहते हैं, किन्तु इन सब फलों की प्राप्ति के लिये ईश्वरपरायण ब्रह्मनिष्ठ को वेदों के नाना कर्मों में प्रवेश का प्रयोजन नहीं रहता। क्योंकि ब्रह्मज्ञानी को वेदोक्त समस्त फल एक ईश्वरोपासना से ही प्राप्त हो जाते हैं। श्रुतिवाक्य है –

एतस्यैव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्रादुपजीवन्ति॥46॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥47॥

सन्दर्भ – शोक, मोह आदि से आक्रान्त व्यक्ति का केवल निष्काम कर्म में ही अधिकार है, ऐसा निरूपित किया जा रहा है।

अन्वय – कर्मणि एव ते अधिकारः (अस्ति)। फलेषु कदाचन मा (अधिकारोऽस्ति)। कर्मफलहेतुः मा भूः, अकर्मणि ते सङ्गः मा अस्तु।।47।।

पदार्थ – कर्मणि एव = कर्म में ही, ते = तुम्हारा, अधिकारः = अधिकार है। फलेषु = कर्मजन्य फलों में, कदाचन = किसी भी प्रकार से तुम्हारा, मा = अधिकार नहीं है। कर्मफलहेतुः = कर्मफल के कारण जिनकी कर्म में प्रवृत्ति होती है, मा भूः = उनके समान तुम मत बनो। अकर्मणि = कर्मत्याग में भी, ते = तुम्हारा, सङ्गः = आकर्षण (प्रवृत्ति), मा अस्तु = न होवे।।47।।

व्याख्या – तुम्हारा श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित नित्य और नैमित्तिक कर्मों में ही अधिकार है, फल में कभी नहीं है। अतः कर्मफल के हेतु मत बनों और अकर्म (कर्मत्याग) में आसक्त न हो।।47।।

विशेष –

1. **'कर्मण्येव'** हे अर्जुन! ज्ञाननिष्ठा और कर्मसंन्यास में तुम्हारी योग्यता नहीं है, इसे द्योतित करने के लिए व्यावृत्तिसूचक **'एव'** शब्द का प्रयोग हुआ है। काम्यकर्म को छोड़कर श्रुति-स्मृति द्वारा विहित नित्य, नैमित्तिक कर्मों में ही तुम मुमुक्षु का **अधिकार** है। यहाँ 'अधिकार' शब्द कर्तव्य का वाचक है। मोक्षार्थी के लिये कर्मफल एवं कर्मसंन्यास दोनों उचित नहीं हैं। इससे यह सूचित होता है कि कर्मफल की अपेक्षा न करके श्रद्धापूर्वक ईश्वरप्रीत्यर्थ कर्म करने वाले का ही मोक्ष होता है, अन्यथा नहीं होता है। यही निष्काम कर्मयोग का सारतत्त्व है।।47।।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।

सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥48॥

सन्दर्भ – प्रस्तुत श्लोक में ज्ञानाभिलाषी को सिद्धि और असिद्धि में 'समबुद्धि' हो कर्म करना उपदिष्ट है।

अन्वय – हे धनञ्जय! योगस्थः (सन्) सङ्गं त्यक्त्वा सिद्ध्यसिद्ध्योः समः भूत्वा कर्माणि कुरु। समत्वं योग उच्यते।।48।।

पदार्थ – हे धनञ्जय! = हे अर्जुन!, योगस्थः (सन्) = योगमुक्त होकर, सङ्गम् = कर्तृत्वाभिनिवेश का, त्यक्त्वा = त्याग कर, सिद्ध्यसिद्ध्योः = जय और पराजय में, समः भूत्वा = समभाव से रहकर, कर्माणि = शास्त्रविहित नित्य, नैमित्तिक कर्मों को, कुरु = सम्पादित करो। समत्वम् = समता ही, योगः = योग, उच्यते = कहलाता है।।48।।

व्याख्या – हे धनञ्जय! ब्रह्मभावापन्न होकर, आसक्ति का परित्याग कर सिद्धि और, असिद्धि में अविचलित (सम) होकर कर्मों को अनुष्ठित करो, क्योंकि (प्रत्येक अवस्था में) मर्यादित रहना ही योग है।।48।।

विशेष –

1. **'हे धनञ्जय'!** अर्जुन के धनञ्जय नाम की व्युत्पत्ति है – **सर्वान् जनपदान् जित्वा वित्तमादाय केवलम्, मध्ये धनस्य तिष्ठामि, तेनाहुर्मां धनञ्जयम्।** श्रीकृष्ण के इस सम्बोधन का अभिप्राय यह है कि तुम युद्ध में अनेक बार जयलाभ कर बहुधन को जय किये हो। अब परमार्थज्ञानरूप धन को यदि जय कर सको तभी ही तुम्हारा जीवन धन्य होगा।

2. **'समत्वं योग उच्यते'** – वर्तमान श्लोक में कर्म को नहीं, किन्तु कर्म में जो समत्वबुद्धि है, उसे योग कहा गया है। अभिप्राय यह है कि निष्काम कर्म का अनुष्ठान करते रहने से फलासक्तिशून्य चित्त में जो समाहित अवस्था (समत्वबुद्धि) प्राप्त होती है, उसे समत्वयोग कहते हैं।।48।।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।

बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥49॥

सन्दर्भ – प्रस्तुत श्लोक द्वारा ज्ञानयोग की श्रेष्ठता का निरूपण किया जा रहा है।

अन्वय – धनञ्जय! हि कर्म बुद्धियोगात् दूरेण अवरम्। त्वं बुद्धौ शरणम् अन्विच्छ। फलहेतवः कृपणाः (भवन्ति)।।49।।

पदार्थ – धनञ्जय! = हे अर्जुन!, हि = क्योंकि, कर्म = काम्यकर्म, बुद्धियोगात् = भगवद्मुखी बुद्धि द्वारा कृत कर्म से, दूरेण = अत्यन्त, अवरम् = निकृष्ट है। (तुम) बुद्धौ = परमात्मविषयक ज्ञान की, शरणम् = शरण में, अन्विच्छ = जाने की इच्छा करो। फलहेतवः = फलाकांक्षीजन, कृपणाः = कृपण होते हैं।।49।।

व्याख्या – हे धनञ्जय! बुद्धियोग (ज्ञानयोग) की अपेक्षा कर्मयोग दूर और निकृष्ट है। इसलिये बुद्धि की शरण खोजो, क्योंकि कर्मफल की इच्छा रखने वाले मनुष्य अत्यन्त असहाय होते हैं।।49।।

विशेष –

1. हे धनञ्जय! क्रिया की परावस्था में बुद्धि स्थिर हो जाती है। यही परमानन्द की अवस्था

है। अतः मन में आत्मा के प्रति विश्वास करके प्रणवधनु पर बाण लगाकर उस आत्मा को लक्ष्य करके छोड़ने का अभ्यास करो। एक दिन **'शरवत्तन्मयो भवेत्'** - जैसे बाण लक्ष्य का भेदन कर उसमें प्रवेश कर जाता है, उसी प्रकार मन आत्मा का लक्ष्य करते-करते उसके भीतर एक दिन प्रविष्ट हो जाएगा।।49।।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।

तस्माद् योगाय युज्यत्व योगः कर्मसु कौशलम्।।50।।

सन्दर्भ – प्रस्तुत श्लोक से ज्ञानयोग से ही शुभाशुभ कर्मों की निवृत्ति का कथन किया जा रहा है।

अन्वय – बुद्धियुक्तः इह उभे सुकृतदुष्कृते जहाति। तस्माद् योगाय युज्यस्व। कर्मसु कौशलं योगः (उच्यते)।।50।।

पदार्थ – बुद्धियुक्तः=समत्वबुद्धियुक्त व्यक्ति, इह = इस लोक में,उभे = दोनों प्रकार के, सुकृतदुष्कृते = पुण्य और पाप कर्म को, जहाति = छोड़ देता है। तस्मात् = इसीलिये, योगाय = समत्वबुद्धिरूप योग के लिये, युज्यस्व = प्रयत्न करो। कर्मसु कौशलम् = ईश्वरार्पित चित्त से कर्म करने का कौशल ही, योगः = योग है।।50।।

व्याख्या – इस लोक में सांख्यबुद्धिसम्पन्न पुरुष पुण्य और पाप दोनों प्रकार के कर्मों के सम्बन्ध को छोड़ देता है। इसलिये योग में तत्पर बनो। क्योंकि पुण्य-पाप की निवृत्ति में ज्ञानयोग ही कुशल अर्थात् परम साधन है।।50।।

विशेष –

1. **'योगः कर्मसु कौशलम्'** – इसका निहितार्थ यह है कि मुमुक्षु के जन्म का कारण है - कर्म ज्ञानयोग के द्वारा ही कर्मों की निःशेष निवृत्ति होती है, किसी अन्य प्रकार से नहीं। इसलिये हे अर्जुन! तुम ज्ञानयोगी बनो।

सांख्यसम्बन्धी बुद्धि से युक्त अर्थात् ज्ञानयोगयुक्त ब्रह्मज्ञानी पुरुष (साधक) अपने कूटस्थ, असंग, चेतन आत्मा के अपरोक्षज्ञान के माहात्म्य से ही विगत असंख्य जन्मों में और वर्तमान जन्म में ज्ञानोत्पत्ति पूर्व किये गये अनेक योनियों को देने वाले पुण्य और पाप दोनों का परित्याग कर देता है। अर्थात् ज्ञानरूप अग्नि से संचित और क्रियमाण कर्मों को दग्ध कर जीवन्मुक्त हो जाता है। हे अर्जुन! कर्मयोग से अशेष पापों की निवृत्ति नहीं हो सकती है।

निष्कामकर्मी जब योगयुक्त होकर कर्म करता है, तब वह कर्म अपने स्वभाव का परित्याग कर देता है यही निष्काम कर्म का कौशल अर्थात् चतुरता है और ऐसे कर्म की कुशलता को ही योग कहा जाता है। ऐसे निष्कामकर्म के अनुष्ठान के समय में सभी अवस्था में समत्वबुद्धिरूप योग विद्यमान रहता है।।50।।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।

जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥51॥

सन्दर्भ – निष्काम कर्म से ज्ञान प्राप्त होने पर साधक की जन्मरूप बन्ध से विनिर्मुक्ति होती है, ऐसा श्लोक में उपपादित किया गया है।

अन्वय – बुद्धियुक्ताः मनीषिणः कर्मजं फलं त्यक्त्वा जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः (सन्तः) अनामयं पदं हि गच्छन्ति।।51।।

पदार्थ – बुद्धियुक्ताः = समत्वबुद्धिसम्पन्न, मनीषिणः = ज्ञानीजन, कर्मजम् = कर्मजनित, फलम् = फल को, त्यक्त्वा = त्याग कर, जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः = जन्मरूपी बन्धन से मुक्त (होकर), अनामयम् = सारे उपद्रवों से रहित, पदम् = विष्णु के परमपद को हि = निश्चित रूप से, गच्छंन्ति = प्राप्त करते हैं।।51।।

व्याख्या – ज्ञानयोग में निष्ठा वाले विद्वान् कर्मजनित फल का परित्याग कर जन्मबन्धन के देह से विनिर्मुक्त होकर दुःखरहित पद को प्राप्त होते हैं।।51।।

विशेष –

1. **'बुद्धियुक्ताः'** – सांख्यबुद्धियुक्त अर्थात् ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञान से सम्पन्न ज्ञानयोगनिष्ठा वाले मनीषी विद्वान् को **'बुद्धियुक्त'** कहा गया है।

2. **'अनामयं पदम्'** – अविद्या एवं अविद्याजनित जो संसार है, वही आमय अर्थात् रोग या उपद्रव है। इस आमयशून्यपद (जन्ममरणादिविरहित) सर्वोपद्रव से रहित अर्थात् जगत् के स्पर्श से शून्य अभयरूप मोक्षनामक विष्णु के परमपद को (आनन्दस्वरूप ब्रह्मपद को अभेदरूप से) प्राप्त करते हैं। अर्थात् देहपात के पश्चात् विदेहमुक्ति को प्राप्त करते हैं। इससे अविद्याजनित तथा वासनाजनित अन्य भाव छूट जाते हैं।

3. **'हि'** - मनीषी विद्वानों को ऐसा अनुभव होता है, यह सुदृढ़ करने के लिए हि पद है।।51।।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।

तदा गन्ताऽसि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥52॥

सन्दर्भ – प्रस्तुत श्लोक में मोह की निवृत्ति से ही वैराग्य-प्राप्ति का कथन किया जा रहा है।

अन्वय – यदा ते बुद्धिः मोहकलिलं व्यतितरिष्यति, तदा श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च निर्वेदं गन्तासि।।52।।

पदार्थ – यदा = जब, ते = तुम्हारी, बुद्धिः = बुद्धि, मोहकलिलम् = अविवेकपूर्ण कालुष्य को, व्यतितरिष्यति = अतिक्रमित करेगी, तदा = तब, श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च = श्रोतव्य और श्रुत विषयों में, निर्वेदम् = वैराग्य को, गन्तासि = तुम प्राप्त कर सकोगे।।52।।

व्याख्या – हे अर्जुन! जब तुम्हारी बुद्धि मोहरूपी कालिमा का परित्याग करेगी, तब श्रुत

=सुने गये और श्रोतव्य=सुने जाने योग्य विषयों के प्रति तुम्हें वैराग्य प्राप्त हो सकेगा।।52।।

विशेष –

1. **'मोहकलिलं बुद्धिः'** एक शब्द में देहात्मबुद्धि को मोहकलिल बुद्धि कहा गया है सत्-असत् का ज्ञान न होना बुद्धिकालुष्य है। दर्पण में धूलिपटल की भाँति विवेकबुद्धि में आच्छादित मोहात्मक आवरण यथार्थबोध का प्रतिबन्धक होता है।

2. **'निर्वेदं गन्तासि'** – मोहात्मक अविवेकरूप कालुष्य का अतिक्रमण कर जब तुम्हारी बुद्धि परिशुद्ध होगी, तब सारे विषय अलंबुद्धि को प्राप्त हो सकेंगे।।52।।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।

समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥53॥

सन्दर्भ – प्रस्तुत श्लोक में ज्ञानयोग की सिद्धि के प्रकार का कथन हो रहा है।

अन्वय – यदा ते श्रुतिविप्रतिपन्ना बुद्धिः समाधौ निश्चला अचला स्थास्यति, तदा योगम् अवाप्स्यसि।।53।।

पदार्थ – यदा=जब, ते=तुम्हारी, श्रुतिविप्रतिपन्ना=श्रुत पदार्थों के श्रवण से विचलित हुई, बुद्धिः=बुद्धि, समाधौ=समाधि में, निश्चला=विषयान्तर से आकृष्ट न होकर, अचला=स्थिरता, स्थास्यति=प्राप्त करेगी, तदा=तब, तुम योगम्=तत्त्वज्ञान को, अवाप्स्यसि=प्राप्त कर सकोगे।।53।।

व्याख्या – श्रुतियों से विप्रतिपन्न अर्थात् सन्दिग्ध तुम्हारी बुद्धि जब निश्चल होकर परब्रह्म में दृढ़ होगी तब तुम प्रज्ञास्थैर्यरूप योग को प्राप्त कर सकोगे।।53।।

विशेष –

1. **'श्रुतिविप्रतिपन्ना बुद्धिः'** – ऋग्वेदादि ग्रन्थों में अनेक विषयों का प्रतिपादन हुआ है – कहीं विविध कर्म, उनके अनेक फल और उनकी महिमा का प्रतिपादन किया गया है; कहीं विविध उपासनाएँ, उनके फलविशेष और उनका महत्त्व प्रतिपादित है; कहीं सगुण ब्रह्म, उसकी उपासना एवं माहात्म्य के साथ उसके फल का उत्कर्ष प्रतिपादित है। कहीं निर्गुण ब्रह्म, उसका ज्ञान, उसका माहात्म्य और उसके फलप्राशस्त्य का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार के लौकिक और वैदिक अर्थवादपरक वाक्यों के श्रवण से संशययुक्त बुद्धि को श्रुतिविप्रतिपन्ना बुद्धि कहते हैं।

2. **'निश्चला'** – सभी शास्त्रों का तात्पर्य निर्विशेष ब्रह्म में ही पर्यवसित होता है, ऐसा निःशेष ज्ञान बाह्य विषयों से पराङ्मुख चित्त को अन्तर्मुखी बनाकर स्थिरता प्रदान करता है, यही निश्चला पद का अभिप्राय है।

3. **'अचला'** – सम्यक् श्रवण और मनन से सम्पन्न तुम्हारी बुद्धि असम्प्रज्ञात योग में अचल अर्थात् निवातस्थ दीपक की भाँति निष्कम्प होकर अभ्यासपटुता से स्थिरता प्राप्त करेगी, यही अचला पद का अभिप्रेत अर्थ है।

3. **'योगमवाप्स्यसि'** – अप्रतिबद्ध ज्ञानयोग में प्रतिष्ठित होकर 'योग' के फल अर्थात्

तत्त्वज्ञान (आत्मसाक्षात्कार) को तुम प्राप्त कर सकोगे।।53।।

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।

स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्॥54॥

सन्दर्भ – प्रस्तुत श्लोक में 'स्थितप्रज्ञ' का स्वरूप जानने की इच्छा से अर्जुन प्रश्न करते हैं।

अन्वय – अर्जुन उवाच। हे केशव! समाधिस्थस्य स्थितप्रज्ञस्य का भाषा, स्थितधीः किं प्रभाषेत, किम् आसीत, किं व्रजेत?।।54।।

पदार्थ – अर्जुन उवाच = अर्जुन बोले। केशव = हे केशव!, समाधिस्थस्य = समाधि में स्थित, स्थितप्रज्ञस्य = स्थितप्रज्ञ की, का भाषा = कौन सी भाषा है? स्थितधीः = स्थितप्रज्ञ योगी, किं प्रभाषेत = किस तरह का वार्तालाप करता है? किम् आसीत= किस तरह बैठता है? किं व्रजेत = किस तरह विचरण करता है?।।54।।

व्याख्या – अर्जुन ने कहा - हे केशव! अमुक् समाधिस्थ पुरुष 'स्थितप्रज्ञ है' ऐसा कब कहा जाता है एवं स्थितप्रज्ञ क्या बोलता है, कैसे रहता है, कैसे जाता है?।।54।।

विशेष –

1. **'केशव!'** अर्जुन द्वारा केशव! सम्बोधन अत्यन्त समीचीन है, क्योंकि श्रीकृष्ण अन्तर्यामी हैं वे ही गूढातिगूढ रहस्य के प्रकाशन में समर्थ हैं।

2. अर्जुन द्वारा किये गये चार प्रश्नों में पहला प्रश्न समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ व्यक्ति के विषय में है और अंतिम तीन प्रश्न व्युत्थित स्थितप्रज्ञ व्यक्ति के सम्बन्ध में हैं।

3. **'का भाषा'** – **भाष्यतेऽनयेति भाषा लक्षणम्** अर्थात् जिससे भाषित, लक्षित अथवा परिचायित होता है, वह भाषा है। इस प्रकार की व्युत्पत्ति के द्वारा भाषा शब्द का अर्थ है कि किन-किन लक्षणों द्वारा दूसरे साधारण व्यक्तियों के द्वारा स्थितप्रज्ञ योगी परिचित होता है? इस अवस्था में योगी का मन इतना एकाग्र एवं सूक्ष्मभावापन्न हो जाता है कि उस समय योगी को शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध किसी प्रकार स्पर्श नहीं कर सकते। योगी जडभावापन्न प्रतीत होता है। अतः अर्जुन का प्रथम प्रश्न समीचीन है।

4. **'किं प्रभाषेत, किं आसीत, किं व्रजेत'** द्वारा स्थितप्रज्ञ जब समाधिभंग के पश्चात् व्युत्थानावस्था में पहुंचता है तब उसका भाषण, उपवेशन, गमनादि व्यवहार क्या मूढ व्यक्तियों से विलक्षण होता है या समान? ये जिज्ञासा के तीन बिन्दु हैं।।54।।

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।

आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥55॥

सन्दर्भ – प्रस्तुत श्लोक में श्रीकृष्ण जिज्ञासु अर्जुन को 'स्थितप्रज्ञ' का लक्षण बतलाते हैं।

अन्वय – श्रीभगवान् उवाच। पार्थ! यदा आत्मनि आत्मना तुष्टः सर्वान् मनोगतान् कामान् प्रजहाति तदा स्थितप्रज्ञः उच्यते।।55।।

पदार्थ – श्रीभगवान् उवाच = श्रीकृष्ण बोले - पार्थ = हे अर्जुन!, यदा = जिस अवस्था में (योगी), आत्मनि = स्वयं अपने में, आत्मना = अपने आत्मा द्वारा, तुष्टः = सन्तृप्त होकर, सर्वान् = समस्त, मनोगतान् = मनोगत, कामान् = कामनाओं को, प्रजहाति = त्याग देता है, तदा = उस अवस्था में, (वह), स्थितप्रज्ञः = स्थितप्रज्ञ, उच्यते = कहलाता है।।55।।

व्याख्या – भगवान् ने कहा - हे पार्थ! जब पुरुष मनोगत समस्त विषयभोगेच्छाओं का परित्याग करता है और अपने आप में जब स्व-स्व रूप से संतुष्ट रहता है, तब उसे 'स्थि.प्रज्ञ' कहते हैं।।55।।

विशेष –

1. **'मनोगतान्'** – आत्मस्वरूप को प्रकाशित करने का मुख्य उपाय मन ही है। ऐसा वचन भी है –मनसैवानुद्रष्टव्यम्। मन के द्वारा ही आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होता है। परन्तु मन कैसा हो .तो उसके लिये कहा गया है –

2. **'सर्वान् कामान्'** – सम्पूर्ण भोगेच्छात्यागरूप मन। **कामयन्तीति कामाः** इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'काम' शब्द का अर्थ विषयभोगेच्छा है। अतः जब सभी प्रकार की विषयभोगेच्छाओं परित्याग से युक्त मन होता है, तब वह आत्मक्रीड, आत्मरति होता है। ऐसा श्रुतिवाक्य भी है –

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य।

जैसे अमृतरस पीने वाला खारे जल की अपेक्षा नहीं करता है वैसे ब्रह्मानन्दस्वरूप आत्मरति योगी तुच्छ विषयसुख की अपेक्षा नहीं करता है। तब वह पण्डितों द्वारा 'यह स्थितप्रज्ञ है' ऐसा कहा जाता है, यह श्लोक का फलितार्थ है।।55।।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥56॥

सन्दर्भ – प्रस्तुत श्लोक में 'स्थितप्रज्ञ' का एक अन्य लक्षण 'स्थितधी' नाम से उपपादित है।

अन्वय – (यः) दुःखेषु अनुद्विग्नमनाः (तथा) सुखेषु विगतस्पृहः वीतरागभयक्रोधः (सः) मुनिः स्थितधीः उच्यते।।56।।

पदार्थ – (जो) दुःखेषु = दुःखों में, अनुद्विग्नमनाः = उद्वेगरहित चित्त होता है, (तथा) उसी प्रकार सुखेषु = सुखों में, विगतस्पृहः = स्पृहारहित, वीतरागभयक्रोधः = अनुराग, भय और क्रोध से रहित होता है, (सः) वह, मुनिः = नरश्रेष्ठ, स्थितधीः = स्थिरबुद्धि , उच्यते = कहलाता है।56।।

व्याख्या – दःखप्रद ज्वर आदि व्याधियों के प्राप्त होने पर जिसका मन विचलित नहीं होता

है, सुखप्रद विषयों में जिसको आसक्ति नहीं होती और जिसको भय और क्रोध आक्रमित नहीं करते हैं, उस मुनि को स्थितधी (स्थितप्रज्ञ) कहते हैं।।56।।

विशेष –

1. '**स्थितधीः**' – ज्वर, शूल, मस्तिष्क पीडा आदि आध्यात्मिक; चोर, सर्प, व्याघ्र आदि आधिभौतिक; वर्षा, वात, आतप आदि आधिदैविक उपद्रवों के उपस्थित होने पर स्वयं अनुद्विग्न= अक्षुभित मन वाला अर्थात् 'क्या करूँ, कहाँ जाऊँ' इस प्रकार की विक्षेपजनित व्यथा से जिसका मन रहित रहता है, समाधिनिष्ठ होने के कारण उपद्रवों से अक्षुब्ध रहता है तथा मधुर अन्नरस आदि में स्पृहारहित होता है, उपकार करने वाले पर राग (प्रीति), अत्यन्त अपकार करने वाले पर क्रोध (अप्रीति) और मरण हेतु के समीप आने पर भव का विषय नहीं बनता है- इस प्रकार के लक्षण वाले पुंश्रेष्ठ को स्थितधी, स्थितप्रज्ञ तथा सिद्ध कहते हैं। ज्ञातव्य है कि पूर्व श्लोक में अर्जुनकृत अंतिम तीन प्रश्नों को व्याख्यायित करते हुए बतलाया गया है कि स्थितप्रज्ञ मुनि अपनी व्युत्थानावस्था में किस प्रकार भाषण, उपवेशन और गमन आदि करता है।।56।।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।

नाऽभिनन्दन्ति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥57॥

सन्दर्भ – किसकी ज्ञाननिष्ठा सिद्ध होती है? इसे प्रस्तुत श्लोक द्वारा व्याख्यायित किया जा रहा है।

अन्वय – यः सर्वत्र अनभिस्नेहः (सन्) तत्तत् शुभाशुभं प्राप्य न अभिनन्दति (तथा) न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।57।।

पदार्थ – यः = जो, सर्वत्र = सब विषयों में, अनभिस्नेहः = अनुराग से शून्य होकर तत्-तत् = उन-उन, शुभाशुभम् = शुभ और अशुभ को, प्राप्य = प्राप्त करके, न अभिनन्दति = न अत्यधिक उत्फुल्ल होता है (इसी प्रकार), न द्वेष्टि = न अत्यधिक विद्वेष करता है, तस्य = उसकी, प्रज्ञा = मेधा, प्रतिष्ठिता = आत्मनिष्ठ (ज्ञाननिष्ठ)होती है।।57।।

व्याख्या – सब पदार्थों में आसक्ति से रहित जो यति प्रारब्धवश तत् - तत् शुभ और अशुभ विषयों को प्राप्त कर हर्ष और विषाद नहीं करता है, उसी की प्रज्ञा सिद्ध होती है।।57।।

विशेष –

1. '**अनभिस्नेहः**' – जो मननशील व्यक्ति दूसरे के वृद्धि-ह्रास को अपने ऊपर आरोपित कर उनके वशीभूत नहीं हो जाता है, वह 'अनभिस्नेह' कहा गया है। ज्ञानी में अभिस्नेहजनित अज्ञानवृत्ति नहीं रहती है। यही योगी को सामान्यजन से विशिष्ट स्थान प्रदान करती है।।57।।

यदा संहरते चाऽयं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥58॥

सन्दर्भ – ज्ञाननिष्ठ सिद्ध साधक कौन है? इसे श्लोक द्वारा रेखांकित किया जा रहा है।

अन्वय – यदा च अयं (योगी) कूर्मः अङ्गानि इव इन्द्रियाणि सर्वशः इन्द्रियार्थेभ्यः संहरते (तदा) तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता (भवति)।।58।।

पदार्थ – यदा च = और जब, अयम् = यह स्थितप्रज्ञ योगी, कूर्मः अंगानि इव = जैसे कच्छप अंगों को समेट लेता है वैसे ही, इन्द्रियाणि = इन्द्रियों को, सर्वशः = चारों ओर से, इन्द्रियार्थेभ्यः = उनके शब्दादि विषयों से, संहरते = प्रत्यावर्तित कर लेता है, तब तस्य = उसकी, प्रज्ञा = प्रज्ञा, प्रतिष्ठिता = प्रतिष्ठित होती है।।58।।

व्याख्या – जैसे कछुआ अपने सब अंगों को समय-समय पर समेट लेता है, वैसे ही ज्ञाननिष्ठा में प्रवृत्त यह योगी जब इन्द्रियार्थों से अपनी सब इन्द्रियों को समेट लेता है, तभी उसकी प्रज्ञा सिद्ध होती है।।58।।

विशेष –

1. यद्यपि महद् वैराग्य, तीव्रमोक्षेच्छा तथा ब्रह्मपरायणता- ये तीनों ज्ञाननिष्ठा की सिद्धि के कारण हैं तथापि इन्द्रियनिग्रह के विना वैराग्यादि और ज्ञाननिष्ठा सिद्ध नहीं होते हैं। अतः साधक यति को प्रज्ञा की सिद्धि के लिए यत्नपूर्वक इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है, यह श्लोक का फलितार्थ है।।58।।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।

रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥59॥

सन्दर्भ – प्रस्तुत श्लोक में परमात्मज्ञान से रागनिवृत्ति का निरूपण किया जा रहा है।

अन्वय – निराहारस्य देहिनः विषयाः विनिवर्तन्ते (किन्तु) रसवर्जम्। परं दृष्ट्वा अस्य रसः अपि निवर्तते।।59।।

पदार्थ – निराहारस्य = अनशनकारी, देहिनः = पुरुष के, विषयाः = शब्द, स्पर्श आदि विषय, विनिवर्तन्ते = निवृत्त हो जाते हैं, (किन्तु) रसवर्जम् = वह निवृत्ति तृष्णाविवर्जित नहीं होती। (दूसरी ओर) परं दृष्ट्वा = परमात्मा के दर्शन प्राप्त कर, अस्य = इस स्थितप्रज्ञ का, रसः अपि = विषयानुराग भी, निवर्तते = निवृत्त हो जाता है।।59।।

व्याख्या – इन्द्रियों को अपने वश में रखने वाले देहाभिमानी तपस्वी के केवल विषय ही निवृत्त होते हैं, राग निवृत्त नहीं होता है। परन्तु इस स्थितप्रज्ञ मुनि का तो परब्रह्म को जानकर राग भी निवृत्त हो जाता है।।59।।

विशेष –

1. '**निराहारस्य देहिनः**' – विषय इन्द्रियों का आहार है अर्थात् इन्द्रियों द्वारा विषय गृहीत होते हैं। जब इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों का ग्रहण नहीं करती हैं तब उन्हें निराहार इन्द्रिय या इन्द्रियनिग्रह कहते हैं। ऐसा इन्द्रियनिग्रहवान् तपस्वी होता है। आत्मस्वरूप से अनभिज्ञ देहाभिमानी तपस्वी द्वारा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने से शब्दादि अन्य विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, किन्तु विषयों

के प्रति आसक्ति समाप्त नहीं होती है। इसे ही श्लोक में रसवर्जम् पद से अभिव्यक्त किया है।

2. **'रसवर्जम्'** – यहाँ 'रस' शब्द राग अर्थात् आसक्ति के अर्थ में प्रयुक्त है। **'रसो रागे गुणे द्रव्ये'** जैसा कि इस कोष वाक्य के अनुसार राग, गुण और द्रव्य इन तीनों का वाचक रस शब्द है।

अपरतः **'रागो लिङ्गमबोधस्य'** इस नियम से राग अबोध का चिह्न है। इसलिये ज्ञान और राग एक वस्तु में नहीं ठहर सकते हैं। इसलिये इन्द्रियनिग्रह पर जब प्रज्ञा की स्थिरता का प्रसंग नहीं है, तब उसके राग की निवृत्ति और प्रज्ञा की सिद्धि कैसे हो सकेगी?

3. **'रसोऽपि निवर्तते'**– श्लोकांश द्वारा इसी शंका के समाधान हेतु कहा जा रहा है कि विवेकज्ञान से अद्वितीय परब्रह्म को देखकर (देहात्माभिमाननिवृत्त होने पर) 'यह मैं ही हूँ' ऐसा स्वात्मस्वरूप से साक्षात् करने वाले का रस निवृत्त हो जाता है। विषयों के प्रति भोग्यत्व की भावना निवृत्त होने से राग की निवृत्ति होती है। भोग्यत्वभावना ब्रह्मदृष्टि से निवृत्त होती है। आत्मज्ञानस्वरूप अग्नि से राग भी भस्म हो जाता है। यह श्लोक का फलितार्थ है।।59।।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥60॥

सन्दर्भ – इन्द्रियनिग्रह की असमर्थता में महान् अनर्थ की सम्भावना को उपपादित किया जा रहा है।

अन्वय – हे कौन्तेय! प्रमाथीनि इन्द्रियाणि यततः अपि विपश्चितः पुरुषस्य मनः हि प्रसभं हरन्ति।।60।।

पदार्थ – हे कौन्तेय = हे कुन्तीपुत्र! प्रमाथीनि = अत्यन्त प्रमत्त, इन्द्रियाणि = इन्द्रियाँ, यततः अपि = प्रयत्नशील रहते हुए भी, विपश्चितः = विवेकी पुरुष के, मनः = मन को, हि = निश्चित रूप से, प्रसभम् = बलपूर्वक, हरन्ति = हरण कर लेती हैं।।60।।

व्याख्या – हे कौन्तेय! ज्ञान में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न हो, इस अभिलाषा से समाधि में प्रयत्न करने वाले विद्वान् पुरुष के मन को भी विक्षोभकारिणी इन्द्रियाँ बलात् पकड़कर विषयों में गिरा देती हैं।।60।।

विशेष –

1. हे अर्जुन! इन्द्रियनिग्रह प्रज्ञा की स्थिरता का असाधारण कारण है। इन्द्रियनिग्रह न करने वाले का स्वरूप से भ्रंश होना ही महान् अनर्थ है। यह श्लोक का अभिप्रेत अर्थ है।।60।।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।

वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥61॥

सन्दर्भ – इन्द्रियनिग्रही में ही स्थितप्रज्ञत्व की प्रबल सम्भावना को निरूपित किया जा रहा है।

अन्वय – तानि सर्वाणि संयम्य मत्परः (सन्) युक्तः आसीत्। हि यस्य इन्द्रियाणि वशे (सन्ति) तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।61।।

पदार्थ – तानि = उन, सर्वाणि = समस्त इन्द्रियों को, संयम्य = संयत करके, मत्परः = मत्परायण (सन्) होकर, युक्तः = योगयुक्त होकर, आसीत् = अवस्थान करे। हि = क्योंकि, इस प्रकार यस्य = जिस योगी की, इन्द्रियाणि = इन्द्रियाँ, वशे = अभ्यास के द्वारा वशीभूत (सन्ति) हैं, तस्य = उसकी, प्रज्ञा प्रतिष्ठिता = प्रज्ञा प्रतिष्ठित हो गई है।।61।।

व्याख्या – अतः उन ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को संयत करके समाहित चित्त हो मेरा भक्त बन कर रहे। क्योंकि जिसके वश में इन्द्रियाँ होती हैं, उसी की प्रज्ञा सिद्ध होती है।।61।।

विशेष –

1. **'मत्परः'** इस पद की व्युत्पत्ति है - **अहमेव परः परमात्मेति परस्मिन्नेव ब्रह्मण्यहंधीर्यस्य स मत्परः**। मैं ही 'पर' अर्थात् परमात्मा हूँ। इस प्रकार परब्रह्म में ही जिसकी बुद्धि है उसे मत्पर कहते हैं। प्रभु का एकान्तभक्त **'मत्परः'** कहा गया है। ब्रह्म में अहंधी जिसकी है, वही मत्पर है।

2. **'इन्द्रियाणि संयम्य'** – योगयुक्त और मत्परायण वही बन सकता है, जिसने अपनी इन्द्रियों को वशीभूत कर लिया है। यह सब इसलिये आवश्यक है कि इन्द्रियों के विषयसमूह सांसारिक बन्धन के कारण हैं। वैषयिक राग–द्वेष से मलिन मन में ज्ञान का प्रकाश नहीं होता है। चित्त ब्रह्मविद्या में नियुक्त नहीं हो पाता है। अतः योगयुक्त बनने की साधना का प्रथम चरण है – इन्द्रियनिग्रह। यति का इन्द्रियसमूह विषयग्रहण का अवकाश न पाकर रागरहित होकर वशीभूत हो जाता है।

3. **'प्रज्ञा प्रतिष्ठिता'** ऐसे यति की प्रज्ञा प्रतिष्ठित अर्थात् निश्चल हो जाती है और उसे मोक्ष की भी सिद्धि होती है, दूसरे को नहीं। यही श्लोक का फलितार्थ है।।61।।

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।

सङ्गात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥62॥

क्रोधाद् भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः।

स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥63॥

सन्दर्भ – इन दो श्लोकों द्वारा विषयध्यान की आसक्ति किस क्रम से घोर अनर्थकारी होती है, इसे उपपादित किया जा रहा है।

अन्वय – विषयान् ध्यायतः पुंसः तेषु सङ्गः उपजायते। सङ्गात् कामः संजायते। कामात् क्रोधः अभिजायते। क्रोधात् संमोहः भवति। संमोहात् स्मृतिविभ्रमः (भवति)। स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशः (भवति)। बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।।62-63।।

पदार्थ – विषयान् = विषयों का, ध्यायतः = चिंतन करते-करते, पुंसः = पुरुष की, तेषु = उनमें, सङ्गः = आसक्ति, उपजायते = उत्पन्न होती है। सङ्गात् = विषयानुराग से, कामः = कामना,

संजायते = उत्पन्न होती है। कामात् = कामना से, क्रोधः = आक्रोश, अभिजायते = उत्पन्न होता है। क्रोधात् = क्रोध से, संमोहः = शुभाशुभ विवेक के अभाव का कारण अविवेक, भवति = होता है। संमोहात् = संमोह से, स्मृतिविभ्रमः = स्मृतिभंश हो जाता है। स्मृतिभ्रंशात् = स्मृतिनाश से, बुद्धिनाशः = बुद्धि अर्थात् ज्ञान का नाश हो जाता है और बुद्धिनाशात् = बुद्धि के नाश से, प्रणश्यति = व्यक्ति नाश को प्राप्त होता है।।62-63।।

व्याख्या – विषयों में रमयत्व-अरमयत्व आदि का ध्यान करने वाले पुरुष का उनमें संग हो जाता है, संग से काम और काम से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से मोह उत्पन्न होता है, मोह से स्मृति का नाश, स्मृतिनाश से बुद्धि का नाश होता है और बुद्धि का नाश होने पर व्यक्ति स्वयं विनष्ट हो जाता है।।62-63।।

विशेष –

1. '**सङ्गः**' – प्रीति को संग कहते हैं। विषयसेवन में आरोपित सुख संग (प्रीति) का जनक होता है।

2. '**कामः**' – तृष्णाविशेष का नाम काम है। दूसरे शब्दों में दृढभूत संग को ही उद्रित काम अर्थात् आसक्ति कहते हैं। संग में 'यह मेरे सुख का कारण है', ऐसा अनुभव होता है। जब कि काम में 'ये सब मेरा हो जाय' ऐसी तृष्णा जागरित होती है।

3. '**क्रोधः**' – किसी प्रतिबन्ध से काम आदि की पूर्ति न होने के कारण क्रोध (विरोधात्मक आवेग) उत्पन्न होता है। क्रोध करने से बुद्धि असंतुलित हो जाती है।

4. '**सम्मोहः**' – विचारशून्यता को सम्मोह कहते हैं। क्रोध का फल सम्मोह है। उचित-अनुचित का निर्णय करने में बुद्धि असमर्थ हो जाती है।

5. '**स्मृतिविभ्रमः**' – विवेकशून्य बुद्धि अर्थात् संमोह से स्मृतिविभ्रम होता है। विवेकशून्यता की परिणति स्मृतिशून्यता है। संस्कार निष्प्रभावी हो जाते हैं। शास्त्रीय वचन और आचार्यों का उपदेश स्मृत नहीं रहता है।

6. '**बुद्धिनाशः**' – स्मरणशक्ति बुद्धि की सम्पदा है। स्मृतिनाश से बुद्धि निष्फल हो जाती है।

7. '**प्रणश्यति**' – सङ्गादि से अपकर्ष की ओर बढ़ते हुए पुरुष के विनाश का साक्षात् कारण बुद्धिनाश है।

इस प्रकार स्वविज्ञान के विनाश से विद्वान् स्वयं भी प्रणष्ट हो जाता है। जैसे विषपान करने वाले का अमर होना असम्भव है। वैसे ही असत् मार्ग में प्रविष्ट पुरुष की सद्गति असंभव है। इसलिये विषयों को अवकाश न देकर इन्द्रियनिग्रही यति ही सम्यग्ज्ञान और उसके फल को प्राप्त करता है, यह फलितार्थ है।।62-63।।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।

आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥64॥

सन्दर्भ – चित्तशुद्धि के साधन रागद्वेषविमुक्तता को उपपादित किया जा रहा है।

अन्वय – रागद्वेषवियुक्तैः आत्मवश्यैः इन्द्रियैः विषयान् चरन् विधेयात्मा तु प्रसादम् अधिगच्छति।

पदार्थ – रागद्वेषवियुक्तैः = राग-द्वेष से रहित, आत्मवश्यैः = आत्मा के वशीभूत, इन्द्रियैः = इन्द्रियों के द्वारा, विषयान् = शब्दादि विषयों को, चरन् = प्राप्त (उपभोग) करते हुए, विधेयात्मा = वशीभूत चित्त वाला यति, शान्तिम् = शान्ति को, अधिगच्छति = प्राप्त करता है।।64।।

व्याख्या – रागद्वेष से रहित अपनी वशीभूत इन्द्रियों से अनिषिद्ध अन्नादि विषयों का उपभोग करने वाला स्वायत्त मनस्क पुरुष अन्तःकरण की अत्यन्त निर्मलता को प्राप्त करता है।।64।।

विशेष –

1. **'आत्मवश्यैः चरन्'** – प्रस्तुत श्लोक द्वारा यह प्रतिपादित किया जा रहा है कि स्थितप्रज्ञ व्यक्ति शरीर यात्रा के निर्वाह के लिए अवर्जनीय आहारपानादिविषयों का जो सेवन करता है वह राग द्वेष से सर्वथा परे रहता है। क्योंकि इष्टत्व और अनिष्टत्व ही राग-द्वेष का बीज है। यति दोषदर्शन से विषयों के प्रति आसक्त नहीं होता है। उसका निर्मल अन्तःकरण ब्रह्मवित् हो जाता है। इससे साधक की जीवन्मुक्त अवस्था पर प्रकाश डाला गया है तथा अर्जुन के पूर्वकृत **'कथं व्रजेत'**(2।54) प्रश्न का उत्तर दिया गया है।

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः – इत्यर्थ वचन से भी यही तथ्य सिद्ध होता है कि आहार की शुद्धि से सत्त्व की शुद्धि और सत्त्वशुद्धि से ध्रुवास्मृति होती है। इसलिये इन्द्रियों की शुद्धि से चित्त की शुद्धि होती है, ऐसा सिद्ध होता है।।64।।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।

प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥65॥

सन्दर्भ – प्रस्तुत श्लोक द्वारा चित्तशुद्धि का फल बतलाया जा रहा है।

अन्वय – प्रसादे अस्य सर्वदुःखानां हानिः उपजायते। हि प्रसन्नचेतसः बुद्धिः आशु पर्यवतिष्ठते।।65।।

पदार्थ – प्रसादे = आत्मप्रसाद लाभ करने पर, अस्य = इसके, सर्वदुःखानाम् = सम्पूर्ण दुःखों का, हानिः = विनाश, उपजायते = होता है। हि = क्योंकि, प्रसन्नचेतसः = प्रसन्नचित्त व्यक्ति की, बुद्धिः = बुद्धि, आशु = शीघ्र, पर्यवतिष्ठते = प्रतिष्ठित होती है।।65।।

व्याख्या – अन्तःकरण की शुद्धि होने पर विद्वान् के दुःखोत्पादक सब विक्षेप निवृत्त हो जाते हैं और उसी से प्रसन्न चित्त वाले पुरुष की ब्रह्मदर्शिनी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है।।65।।

विशेष –

1. **'प्रसादे'**– असम्भावना तथा विपरीतभावना प्रभृति प्रतिबन्धक न रहने पर यति की बुद्धि आकाश के सदृश सभी ओर से आत्मस्वरूप में अवस्थित होती है। चित्त के प्रसाद से मुमुक्षु **'तत्त्वमसि'**, **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** इत्यादि श्रुतिवाक्यों का तात्पर्यनिर्णय करने में समर्थ होता है।

2. **'बुद्धिः पर्यवतिष्ठते'** – यही स्थितप्रज्ञ की अवस्था है। इस अवस्था में आत्मतत्त्व का अपरोक्ष ज्ञान होता है। इसमें अज्ञान की निवृत्ति होती है, इससे अज्ञाननिमित्तक दुःखों का आत्यन्तिक नाश होता है एवं परमानन्द की प्राप्ति होती है। इसी को ही मोक्ष कहते हैं।

3. चित्तप्रसाद का फल मोक्ष है, यही इस श्लोक का अभिप्रेत अर्थ है।।65।।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।

न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥66॥

सन्दर्भ – प्रस्तुत श्लोक में समाधिरहित पुरुष की अनर्थप्राप्ति वर्णित है।

अन्वय – अयुक्तस्य बुद्धिः नास्ति, अयुक्तस्य भावना च न, अभावयतः च शान्तिः न, अशान्तस्य कुतः सुखम्।।66।।

पदार्थ – अयुक्तस्य = अजितेन्द्रिय पुरुष की, बुद्धिः = बुद्धि, नास्ति = नहीं होती है, च= और अयुक्तस्य = अयुक्त पुरुष की, भावना = धारणा, न = नहीं होती है। अभावयतः = आत्मध्यान से शून्य पुरुष को, शान्तिः = आत्मतोष, न = नहीं होता है। (फिर) अशान्तस्य = अशान्तचित्त पुरुष को, कुतः सुखम् = मोक्षानन्द कहाँ से प्राप्त होगा?।66।।

व्याख्या – अयुक्त पुरुष को न बुद्धि होती है और न भावना होती है। इसी प्रकार भावनारहित पुरुष को शान्ति नहीं मिलती और शान्तिरहित पुरुष को सुख कहाँ?।।66।।

विशेष –

1. **'अशान्तस्य कुतः सुखम्'** – क्रिया की परावस्था के विना मन को उपराम नहीं प्राप्त हो सकता। मनोनिवृत्ति हुए विना विषय-पिपासा का अन्त नहीं होता। इन्द्रियाँ स्वभाव से ही विषय चाहती हैं। चाहे जितना शास्त्रोपदेश किया जाय, उनका चाञ्चल्य नहीं मिटता है। क्रिया करने से मन शान्त होता है और उसके साथ इन्द्रियाँ भी शान्त हो जाती हैं और यदि इन्द्रियाँ अत्यधिक अतृप्त हैं तो अशान्त मन को सुख कैसा? यह सामान्य मनुष्य के अशान्त मन की स्थिति है।

'अशान्तस्य कुतः सुखम्' इसका आध्यात्मिक पक्ष यह है कि जो अनात्म में आत्मा को अथवा जगत् में द्वैतदर्शन करते हैं उन पुरुषों को नित्यसुख अर्थात् नित्य-निरन्तर ब्राह्मसुख (ब्रह्मानन्द) कहाँ है? ऐसे साधकों को आत्मसाक्षात्कार हुए विना यथार्थ शान्ति न होगी। अत एव विदेहमुक्ति का आनन्द उन्हें कैसे प्राप्त हो सकता है? ब्रह्मभाव को प्राप्त हुए विना अर्थात् विदेहमुक्त हुए विना उनको कैसे ब्रह्मसुख की प्राप्ति हो सकती है?।66।।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।

तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाऽम्भसि॥67॥

सन्दर्भ – प्रस्तुत श्लोक में मन की बाह्य प्रवृत्ति को बुद्धिनाश का कारण बतलाया जा रहा है।

अन्वय – हि चरताम् इन्द्रियाणां मनः यत् अनुविधीयते, तत् अम्भसि वायुः नावम् इव अस्य प्रज्ञां हरति।।67।।

पदार्थ – हि = क्योंकि, चरताम् = विचरणशील, इन्द्रियाणाम् = इन्द्रियों में, मनः = मन, यत् = जिस इन्द्रिय को, अनुविधीयते = अनुसारित करता है, तत् = वह इन्द्रिय, अम्भसि = समुद्र में, वायुः नावम् इव = वायु जैसे नौका को चलायमान करती है उसी प्रकार, अस्य = इसकी, प्रज्ञाम् = प्रज्ञा को, हरति = हर लेती है।।67।।

व्याख्या – यदि विद्वान् अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त इन्द्रियों के पीछे मन को भी प्रवृत्त करे, तो जैसे वायु जल में नौका को हर लेता है, वैसे ही उक्त मन उसकी बुद्धि को हर लेता है।।67।।

विशेष –

'वायुर्नावमिवाम्भसि' – अवशीकृत, स्वेच्छाचारी, विषयानुगामी इन्द्रियों में से जब किसी एक इन्द्रिय के पीछे मन चलता है, तब वह इन्द्रिय पुरुष की प्रज्ञा का हरण कर लेती है। उसे विषय-विक्षिप्त बना देती है। यदि सारी इन्द्रियाँ स्वेच्छाचारी हो जाएं तो प्रज्ञा के हरण के विषय में फिर क्या कहना? पुरुष की प्रज्ञा के हरण की यह स्थिति वैसी ही है जिस प्रकार समुद्र में प्रमत्त कर्णधार की नौका का वायु द्वारा अनियंत्रित होना।

जल में ही वायु नाव को स्थानच्युत कर सकती है, स्थल में नहीं। इसलिए **'अम्भसि'** पद का प्रयोग किया गया है। जैसे प्रतिकूल वायु नौका को महा आवर्त में गिरा देता है, वैसे ही विद्वान् की प्रज्ञा को अर्थात् विवेकबुद्धि को अनादि अविद्या की ऊँची-ऊँची वासनाओं द्वारा आकृष्ट मन विषयों में, कर्म में, योग में, उपासना में, व्यवहार में अथवा अन्य किसी में गिराकर नष्ट कर देता है, यह श्लोक का फलितार्थ है।।67।।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥68॥

सन्दर्भ – प्रस्तुत श्लोक में इन्द्रियनिग्रह से ही प्रज्ञास्थैर्य को उपपादित किया जा रहा है।

अन्वय – महाबाहो! तस्मात् यस्य इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यः सर्वशः निगृहीतानि, तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।68।।

पदार्थ – महाबाहो = हे शक्तिशाली अर्जुन!, तस्मात् = इसलिये, यस्य = जिस योगी की इन्द्रियाणि = इन्द्रियाँ, इन्द्रियार्थेभ्यः = इन्द्रियों के विषयों से, सर्वशः = सब प्रकार से, निगृहीतानि

= पराङ्मुखी हो गई हैं, तस्य = उसकी, प्रज्ञा प्रतिष्ठिता = विवेकबुद्धि प्रतिष्ठित हो गई है।।68।।

व्याख्या – इससे हे महाबाहो! अपने-अपने विषयों से जिसकी सब इन्द्रियाँ संयमित हो जाती हैं, उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित हो जाती है।।68।।

विशेष –

1. **'महाबाहो'**! रागादि शत्रुओं का संहार करने में समर्थ का ही अधिकार है, अन्य का नहीं, यह सूचित करने के लिए महाबाहो! यह सम्बोधन है।

2. **'प्रज्ञा प्रतिष्ठिता'** – जिस मुमुक्षु यति की सब इन्द्रियाँ उनके विषयों से निगृहीत हो जाती हैं अर्थात् विषयों के प्रति अलंबुद्धि जागरित होती है, ऐसे परवैराग्य से उस धन्य पुरुष को समाधि सिद्ध होती है। अर्थात् वह अविप्लुतविवेकख्यातिवान् हो जाता है। फलस्वरूप विदेहबुद्धि और उसका सुख सम्मुख खड़ा होता है।।68।।

या निशा सर्वभूताना तस्यां जागर्ति संयमी।

यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥69॥

सन्दर्भ – इसमें ब्रह्मवित् की अद्वैतबोध में जागरूकता और द्वैतबोध में स्वाप की स्थिति का निरूपण किया जा रहा है।

अन्वय – सर्वभूतानां या निशा तस्यां संयमी जागर्ति। यस्यां भूतानि जाग्रति पश्यतः मुनेः सा निशा।।69।।

पदार्थ – सर्वभूतानाम् = साधारण मनुष्यों के लिये, या = जो, निशा = निशास्वरूप है, तस्याम् = उस समय में, संयमी = जितेन्द्रिय व्यक्ति, जागर्ति = जागते रहते हैं। यस्याम् = जिस समय में, भूतानि = साधारण लोग, जाग्रति = जागते हैं अर्थात् आहार-विहार आदि चेष्टाएँ करते हैं, पश्यतः मुनेः = आत्मदर्शी मुनि के लिए, सा = वह, निशा = निशा के समान है।।69।।

व्याख्या – साधारण प्राणियों के लिये जो निशा है अर्थात् जिसमें साधारण प्राणियों की दृष्टि नहीं पहुँचती, उस निशारूप आत्मनिष्ठा में संयमी विद्वान् जागता है, रमण करता है और द्रष्टा, दर्शन आदि भेदों से युक्त जिस अविद्या में प्राणी मैं, मेरा इत्यादि व्यवहार नहीं करते हैं, सबमें ब्रह्मभाव देखने वाले ब्रह्मज्ञानी के लिए वह निशा है। अर्थात् जैसे प्राणी रात्रि में व्यवहार नहीं करते, वैसे ही अविद्यारूप रात्रि में ब्रह्मनिष्ठ अहं, मम इत्यादि व्यवहार नहीं करता है।।69।।

विशेष –

'निशा' – 'शम्' सुख का नाम है। अत्यन्त सुखरूप होने से वह निशा है। सूर्य के उदय होने से जिस प्रकार रात्रि का अन्धकार नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार विद्या अर्थात् तत्त्वज्ञान उत्पन्न होने से अविद्या नष्ट हो जाती है।

रात्रि में अन्धकार जैसे वस्तुसमूह को आच्छन्न कर उनका प्रकृत स्वरूप जानने नहीं देता है, उसी प्रकार अज्ञानरूप अंधकार जागतिक वस्तुओं में जो एक परमात्मा ही यथार्थ तत्त्वरूप में

विद्यमान है, उसका स्वरूप प्रकाशित नहीं होने देता है। वह परमात्मतत्त्व अविद्याच्छन्न प्राणी की बुद्धि के बाहर रहने के कारण रात्रि के सदृश अन्धकारमय रहता है।

जैसे दूसरे के लिये जो दिन है वही रात्रिचर उल्लूस्थानीय तमोगुणप्रधान प्राणी के लिए रात्रि होती है। उसी प्रकार निशाचर स्थानीय अज्ञ व्यक्ति के लिये परमार्थतत्त्व भी निशा है अर्थात् निशासदृश है, क्योंकि अज्ञान के कारण अनात्मबुद्धिसम्पन्न व्यक्तियों की दृष्टि में परमार्थ आत्मतत्त्व आवृत रहने के कारण उनके ज्ञान का विषय नहीं हो सकता है। यह श्लोक का अभिप्रेत अर्थ है।।69।।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।

तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥70॥

सन्दर्भ – बाह्य आलम्बन से रहित होकर केवल 'ब्रह्म' को आलम्बन बनाने वाला पुरुष शान्ति प्राप्त करता है, यह निरूपण किया जा रहा है।

अन्वय – यद्वत् आपः आपूर्यमाणम् अचलप्रतिष्ठं समुद्रं प्रविशन्ति, तद्वत् सर्वे कामाः यं प्रविशन्ति सः शान्तिम् आप्नोति, न कामकामी।।70।।

पदार्थ – यद्वत्=जिस प्रकार, आपः=जलराशि, आपूर्यमाणम्=परिपूर्ण, अचलप्रतिष्ठम्=अचलभाव में स्थित अर्थात् सदा एकरूप, समुद्रम्=समुद्र में, प्रविशन्ति=प्रवेश करती है, तद्वत्=उसी प्रकार, सर्वे कामाः=सारे काम्य विषय, यम्=जिसमें, प्रविशन्ति=प्रवेश करते हैं, सः=वह संयमी मुनि, शान्तिम्=शान्ति को, आप्नोति=प्राप्त करता है, न=न कि, कामकामी=विषयभोगेच्छुक पुरुष (शान्ति प्राप्त करता है)।।70।।

व्याख्या – महानद और नदियों के निरन्तर प्रवाहों से चारों ओर से भरे जाने पर भी अपनी पूर्व मर्यादा को न छोड़ने वाले समुद्र में जैसे अनेक तरह के गंगा, सिन्धु आदि सरिताओं के जल प्रविष्ट होते हैं, वैसे ही सभी प्रकार के भोग्य पदार्थों से आपूर्यमाण होने पर भी अपनी अखण्डाकारवृत्तिरूपा प्रतिष्ठा को न छोड़ने वाले जिस मुनि में अनेक तरह के भोग्य पदार्थ प्रविष्ट होते हैं, वही केवल शान्ति को (मोक्ष को) प्राप्त होता है, विषयाभिलाषी पुरुष शान्ति को प्राप्त नहीं होता है।।70।।

विशेष –

1. **'शान्तिमाप्नोति'** आहार आदि में भी स्थितप्रज्ञ ब्रह्मवित् यति ब्रह्मस्वरूप से ब्रह्म में ही स्थित होता है, अनात्मा में कभी भी स्थित नहीं होता, इस प्रकार अर्जुन के कैसे बैठता है? (**किमासीत** 2/54) इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है।।70।।

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमाँश्चरति निःस्पृहः।

निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥71॥

सन्दर्भ – प्रस्तुत श्लोक में श्रीकृष्ण अर्जुन के इस प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं कि 'स्थितप्रज्ञ कहा जाता है?'

अन्वय – यः पुमान् सर्वान् विहाय निस्पृहः निर्ममः निरहंकारः (सन्) चरति, सः = शान्तिम् अधिगच्छति।।71।।

पदार्थ – यः= जो, पुमान् = पुरुष, सर्वान् कामान् = सारी कामनाओं को, विहाय = त्याग कर, निस्पृहः = स्पृहाशून्य, निर्ममः = ममताविहीन, निरहङ्कारः = अहंकाररहित (सन्) होकर, चरति = विचरण करता है, सः = वह, शान्तिम् = शान्ति को, अधिगच्छति = प्राप्त होता है।।71।।

व्याख्या – केवल ब्रह्म में ही अभिनिवेश रखने के कारण जिसका देह से अहमात्मक अहंकार निकल गया है, देहादि और उसके धर्मों से जिसकी ममता (ममत्वबुद्धि) निकल गई है, जो सब विषयों से वितृष्ण है और सम्पूर्ण बाह्य विषयों को छोड़कर सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि से विचरता है, वही परम शान्ति को प्राप्त होता है।।71।।

विशेष –

1. **'पुमान्'** पुमर्थ अर्थात् अतिदुर्लभ मोक्ष को, महान् प्रयत्न से प्राप्त करने वाला ब्रह्मवित् पुमान् है, अर्थात् पुरुष शब्द से वाच्य है। एवंभूत ब्रह्मवित् यति शान्ति को अर्थात् आत्यन्तिक संसारोपरमरूप विदेहमुक्ति को प्राप्त होता है, इसके विपरीत लक्षण वाला नहीं।

2. **'अधिगच्छति'** ब्रह्मरूप से सबको देखने वाला और ब्रह्मानन्द को भोगने वाला ब्रह्मवित् सर्वत्र विचरता है, एक स्थान में नहीं ठहरता, इस कथन से स्थितप्रज्ञ कैसे चलता है **(व्रजेत किम्** 2/54)? इस पूर्वोक्त प्रश्न का उत्तर दिया गया है।।71।।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।

स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥72॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे

सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः॥2॥

सन्दर्भ – प्रस्तुत श्लोक में ब्राह्मी स्थिति में रहने वाले यति की ब्रह्मप्राप्ति का कथन किया जा रहा है।

अन्वय – हे पार्थ! एषा ब्राह्मी स्थितिः। एनां प्राप्य न विमुह्यति। अन्तकाले अपि अस्यां स्थित्वा ब्रह्मनिर्वाणम् ऋच्छति।।92।।

पदार्थ – पार्थ = हे पार्थ! एषा = यह, ब्राह्मी स्थितिः = ब्राह्मी स्थिति है। एनाम् = इसको, प्राप्य = प्राप्त कर, न विमुह्यति = यति विमुग्ध नहीं होता है। अन्तकाले अपि = मृत्यु के समय भी, अस्याम् = इसमें, स्थित्वा = अवस्थित रहकर, ब्रह्मनिर्वाणम् = ब्रह्मनिर्वाण को, ऋच्छति = प्राप्त होता है।।72।।

व्याख्या – हे मोक्षार्थी अर्जुन! यही ब्राह्मी (ब्रह्मप्रापक) स्थिति है, जिसको पाकर मुमुक्षु मोह को (देह को) प्राप्त नहीं होता है। अधिक क्या कहूं, अन्त समय में क्षरभर भी इस अवस्था में रहकर पुरुष मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।।72।।

विशेष –

1. **'पार्थ'** अपने स्वरूप को प्रकाशित करके जो मुमुक्षु को संसाररूप मृत्यु से बचाता है, वह **'पः'** अर्थात् परमात्मा कहलाता है, उसी को जो चाहता है वह पार्थ कहलाता है। हे पार्थ! उसका सम्बोधन है।

अपर अभिप्राय यह है कि हे अर्जुन! तुम्हारी माता पृथा (कुन्ती) सभी अवस्थाओं में तथा सभी कर्मों में मुझमें ही स्थित रहती है। अतः तुम भी उनके सदृश ज्ञानाभ्यास के द्वारा ब्रह्मस्वरूप मुझ में ही स्थिति लाभ कर सकोगे, इस प्रकार आश्वासन देने के लिए श्रीकृष्ण ने यहाँ **'पार्थ'** कहकर सम्बोधन किया।

2. **ब्राह्मी स्थितिः** – सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक ब्रह्मस्वरूप में स्थित रहना ही ब्रह्मी स्थिति है।।72।।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद् के ब्रह्मविद्या के योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुन संवाद में सांख्ययोग नाम का यह द्वितीय अध्याय है।।2।।

पञ्चम इकाई (तृतीय अध्याय 1-23 श्लोक)

अथ तृतीयोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।

तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥1॥

सन्दर्भ – प्रस्तुत श्लोक में अर्जुन की जिज्ञासा व्यक्त हुई है कि यदि ज्ञान श्रेष्ठ है तो मुझे घोर कर्म में क्यों प्रवृत्त किया जा रहा है?

अन्वय – अर्जुन उवाच - जनार्दन! चेत् कर्मणः बुद्धिः ज्यायसी (अस्ति), ते मता तत् किं केशव! घोरे कर्मणि मां नियोजयसि।।1।।

पदार्थ – अर्जुन उवाच = अर्जुन बोले, जनार्दन = हे जनार्दन!, चेत् = यदि, कर्मणः = कर्मयोग की अपेक्षा, बुद्धिः = ज्ञानयोग, ज्यायसी = श्रेष्ठ (अस्ति) है, ते मता = ऐसी तुम्हारी धारणा है, तत् किम् = तो फिर क्यों, केशव = हे केशव!, घोरे = भयंकर, कर्मणि = युद्धकर्म में, माम् = मुझ को, नियोजयसि = नियुक्त करते हो?।।1।।

व्याख्या – अज्ञान का विनाश करने वाले हे जनार्दन! यदि कर्मयोग की अपेक्षा ज्ञानयोग को आप श्रेष्ठ मानते हैं, तो हे केशव! हिंसात्मक कर्म में मुझे क्यों प्रवृत्त करा रहे हो?

विशेष –

1. **'जनार्दन'!** इस पद की व्युत्पत्ति है – **जनं जननं तत्कारणमज्ञानं च स्वसाक्षात्कारेणऽर्दयति हिनस्तीति जनार्दनः**। 'जन' अर्थात् जन्म और उसके कारणभूत अज्ञान को अपने साक्षात्कार से जो 'अर्दन' अर्थात् नष्ट कर देता है, वह जनार्दन कहलाता है, उसी का सम्बोधन पद हे जनार्दन है। 'मैं जन्ममृत्युरूप इस घोर संसार से मुक्त हो सकूँ,' इसी अभिप्राय से अर्जुन ने यहाँ श्रीकृष्ण को जनार्दन कहकर सम्बोधित किया।

2. **'कर्म'** प्रवृत्तिलक्षणक होता है और ज्ञान संन्यासलक्षणक। कर्म में प्रवृत्ति है, ज्ञान में निवृत्ति (संन्यास)। एक ओर ज्ञान की प्रशंसा और दूसरी ओर कर्म की ओर प्रवृत्त करने का उद्देश्य क्या है? इसे ही जानने के लिये अर्जुन का यह प्रश्न है।।1।।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।

तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥2॥

सन्दर्भ – प्रस्तुत श्लोक में ज्ञानयोग और कर्मयोग में से जो कल्याणकर साधन हो, उसे मुझ **से कहिये**, ऐसी प्रार्थना अर्जुन श्रीकृष्ण से करते हैं।

अन्वय – व्यामिश्रेण वाक्येन इव (त्वं) मे बुद्धिं मोहयसि इव। येन अहं श्रेयः आप्नुयाम्, तत् एकं निश्चित्य वद।।2।।

पदार्थ – व्यामिश्रेण वाक्येन इव = परस्पर- विरोधी मिश्रित वाक्य के द्वारा (त्वम्) तुम, मे = मेरी, बुद्धिम् = बुद्धि को, मोहयसि इव = मानों मोहित कर रहे हो। येन = जिसके द्वारा, अहम् = मैं, श्रेयः = कल्याण को, आप्नुयाम् = प्राप्त कर सकूँ, तत् = वह, एकम् = एक, निश्चित्व = निश्चय करके, वद = बोलिये।।2।।

व्याख्या – ज्ञान-कर्म-समुच्चय के प्रतिपादक वाक्यों से आप मेरी बुद्धि को मानों भ्रम में डाल रहे हैं अर्थात् मुझे कर्म में प्रवृत्त करा रहे हैं। अतः ज्ञान और कर्मयोग में से किसी एक को, जो मेरे योग्य हो, विचारकर मुझ से कहिये, जिससे मैं श्रेय पा सकूँ।।2।।

विशेष –

1. **'व्यामिश्रेण वाक्येन'** परस्पर-विरोधी प्रकृति के सन्देहोत्पादक वाक्यों को व्यामिश्र वाक्य कहा गया है। जैसे **'कर्मण्येवाऽधिकारस्ते'**, **'बुद्धौ शरणमन्विच्छ'** ये दो व्यामिश्र वाक्य हैं। एक ओर 'कर्म' में ही तुम्हारा अधिकार है' ऐसा कहा जा रहा है तो दूसरी ओर 'बुद्धि की शरण लो' कहकर ज्ञानयोग में प्रतिष्ठित होने का उपदेश किया जा रहा है। मुझ अल्प बुद्धि को ये दोनों विचारधारायें दूध में पानी के मिश्रण के समान प्रतीत हो रही हैं। यह भी मेरी बुद्धि का ही दोष है।

2. **'एकं वद'** वाक्यांश द्वारा अर्जुन की श्रीकृष्ण के प्रति पूर्ण आस्था व्यक्त हो रही है वह प्रभु द्वारा बतलाये गये किसी एक मार्ग का वरण करने की मनःस्थिति में है।।2।।

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ।

ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।।3।।

सन्दर्भ – प्रस्तुत श्लोक में श्रीकृष्ण ज्ञानयोग और कर्मयोग इन दोनों की क्रमशः श्रेयसाधनता का निरूपण करते हैं।

अन्वय – श्रीभगवान् उवाच - अनघ! अस्मिन् लोके द्विविधा निष्ठा मया पुरा प्रोक्ता, ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।।3।।

पदार्थ – श्रीभगवान् उवाच = श्रीकृष्ण बोले - अनघ = हे निष्पाप, अस्मिन् = इस, लोके = संसार में, द्विविधा निष्ठा = दो प्रकार की ब्रह्मनिष्ठा, मया = मेरे द्वारा, पुरा = पूर्व में, प्रोक्ता = कही गई है। ज्ञानयोगेन = ज्ञानयोग के द्वारा, सांख्यानाम् = ज्ञानाधिकारी लोगों की, (तथा) कर्मयोगेन = निष्काम कर्मयोग के द्वारा, योगिनाम् = योगियों की (निष्ठा कही गई है)।।3।।

व्याख्या – भगवान् ने कहा पूर्व में वेदस्वरूपधारी मैंने इस लोक में स्वधर्मपरायण ब्राह्मण आदि मुमुक्षुओं के लिये दो प्रकार की निष्ठाएँ कही हैं। ब्रह्मज्ञानी योगियों के लिए ज्ञानयोग से एक निष्ठा (अवस्थिति) और गृहस्थों के लिये कर्मयोग से दूसरी निष्ठा (अवस्थिति) कही गई है।।3।।

विशेष –

1. **'अनघ'**! अर्जुन निरपराध, निष्कलंक एवं पवित्र हैं, प्रभु की शरणागति में होने से

अक्षत एवं सुरक्षित हैं। प्रभु से ब्रह्मविद्या का उपदेश पाने के अधिकारी हैं, इत्यादि भावों की सृष्टि 'अनघ' इस संबुद्धि पद से होती है।

2. **'निष्ठा'** निष्ठा शब्द का अर्थ है ब्राह्मी स्थिति। सरल शब्दों में नियम से स्थिति को निष्ठा कहते हैं।

3. **'सांख्यानां ज्ञानयोगेन निष्ठा'** निःशेष परब्रह्म को आत्मरूप से जानने वाले 'सांख्य' ब्रह्मज्ञानी कहलाते हैं। उन 'सांख्यों' की अर्थात् ब्रह्मज्ञानी यतियों की ज्ञानयोग से निष्ठा कही है। जिस ब्रह्मज्ञान से यति ब्रह्म से एकीकृत हो जाता है वही योग है, वही ज्ञानयोग है।

4. **'योगिनां कर्मयोगेन निष्ठा'** योगी अर्थात् कर्मयोगी गृहस्थों की कर्मयोग से निष्ठा होती है। कर्मरूप ही योग कर्मयोग कहलाता है। कर्मयोग की निष्ठा अर्थात् नियम की स्थिति को समझना चाहिए।

अहरहः संध्यामुपासीत, कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः, स्वाध्यायोऽध्येतव्यः आदि अनेक श्रुतिवाक्यों से श्रौत, स्मार्त, कर्मनिष्ठा ही कर्मियों के लिये कर्तव्य है, ऐसा विधान किया गया है।

इस प्रकार कर्मी गृहस्थों की और अकर्मी संन्यासियों की दो पृथक्-पृथक् निष्ठा प्रतिपादित हुई है, यह श्लोक का अभिप्रेत अर्थ है।।3।।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।

न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥4॥

सन्दर्भ – प्रस्तुत श्लोक में मुमुक्षु को चित्तशुद्धि के लिये अपरिहार्य कर्म की कर्तव्यता का बोध कराया जा रहा है।

अन्वय – पुरुषः कर्मणाम् अनारम्भात् नैष्कर्म्यं न अश्नुते। (तथा) संन्यसनात् एव सिद्धिं न च समधिगच्छति।।4।।

पदार्थ – पुरुषः = मनुष्य, कर्मणाम् = कर्मों का, अनारम्भात् = अनुष्ठान किये विना, नैष्कर्म्यम् = निष्क्रिय अवस्था को, न अश्नुते = नहीं प्राप्त कर सकता है। (तथा) उसी प्रकार संन्यसनात् एव = केवल संन्यासग्रहण या कर्मत्याग से भी, न च सिद्धिम् = सिद्धि को नहीं, अधिगच्छति = प्राप्त कर सकता है।।4।।

व्याख्या – कोई भी पुरुष श्रौत, स्मार्त आदि नित्य कर्मों का अनुष्ठान किये विना मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता है। इसी प्रकार आलस्यवश शिखा, उपवीत आदि के परित्यागमात्र से भी सिद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता है।।4।।

विशेष –

1. कर्मानुष्ठान से चित्तशुद्धि होती है और चित्तशुद्धि के विना यथार्थ संन्यास नहीं हो सकता। यदि उत्सुकतावश यथाकथञ्चित् (शास्त्रविरुद्ध) संन्यास किया जाय, तो वह फलपर्यवसायी नहीं होता

है। अर्थात् नैष्कर्म्य या ज्ञाननिष्ठा-स्थानीय नहीं होता है। निष्कामकर्म के द्वारा चित्तशुद्धि होने से, वेदान्त आदि को सुनने से जो ज्ञान होता है, उसके द्वारा ही मुक्ति प्राप्त होती है। श्रुतिवाक्य भी है – **'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्'**।

2. **'च'** केवल कर्मत्याग करने से संन्यास नहीं होता है, इसे समझाने के लिए 'च' शब्द का 'तु' अर्थ में प्रयोग हुआ है।।4।।

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥5॥

सन्दर्भ – कर्म का परित्याग कर कोई भी प्राणी क्षण भर नहीं रह सकता है, यह निरूपण किया जा रहा है।

अन्वय – कश्चित् क्षणम् अपि अकर्मकृत् न हि तिष्ठति। हि सर्वः अवशः (सन्) प्रकृतिजैः गुणैः कर्म कार्यते।।5।।

पदार्थ – कश्चित् = कोई भी प्राणी, जातु = कदाचित्, क्षणम् अपि = क्षणभर के लिये भी, अकर्मकृत् = कर्म न करता हुआ, न हि तिष्ठति = रह ही नहीं सकता है। हि = क्योंकि, सर्वः = सभी प्राणिजन, अवशः = वशीभूत होकर, प्रकृतिजैः गुणैः = प्रकृतिजन्य गुणों के कारण, कर्म = कार्य, कार्यते = करते हैं।।5।।

व्याख्या – कोई भी प्राणी पलभर भी कर्म किये विना नहीं रह सकता है, क्योंकि प्रत्येक प्राणी प्रकृति के गुणों से विवश होकर कुछ न कुछ करता ही रहता है।।5।।

विशेष –

1. **'हि'** इस लोक में कभी कोई भी प्राणी क्षणपर्यन्त भी कर्म के विना अवस्थित नहीं रह सकता है। किन्तु सुषुप्ति को छोड़कर जाग्रत् और स्वप्न दोनों में सर्वदा शरीर से, मन से, वाणी से अथवा नेत्र आदि से कुछ न कुछ कर्म करता ही रहता है, कहीं भी चुपचाप नहीं रहता, यह सर्वविदित है, ऐसी प्रसिद्धि बतलाने के लिए श्लोक में **'हि'** शब्द का प्रयोग हुआ है।

2. एक ब्रह्मवित् ही चुपचाप रह सकता है, उसके अतिरिक्त दूसरा नहीं रह सकता, यह श्लोक का गूढार्थ है।।5।।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।

इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥6॥

सन्दर्भ – प्रस्तुत श्लोक में आत्मवञ्चक पुरुष का निरूपण किया जा रहा है।

अन्वय – यः विमूढात्मा कर्मेन्द्रियाणि संयम्य मनसा इन्द्रियार्थान् स्मरन् आस्ते, सः मिथ्याचारः उच्यते।।6।।

पदार्थ – यः = जो, विमूढात्मा = मूढमति व्यक्ति, कर्मेन्द्रियाणि = कर्मेन्द्रियों को, संयम्य = संयत करके, मनसा = मन के द्वारा, इन्द्रियार्थान् = इन्द्रियों के विषयों को, स्मरन् = सोचता हुआ,

आस्ते = रहता है, सः = वह व्यक्ति, मिथ्याचारः = पापाचारी, उच्यते = कहा जाता है।।6।।

व्याख्या – कर्तव्य और अकर्तव्य के विवेक से शून्य जो कोई व्यक्ति कर्मेन्द्रियों को संयमित कर किन्तु उनके विषयों का मन से ध्यान करता हुआ रहता है, वह सज्जनों द्वारा आत्मवञ्चक कहा जाता है।।6।।

विशेष –

1. **'मिथ्याचारः'** जो अनात्मवस्तु है, वह सब मिथ्या है। उसमें मन लगाना केवल मिथ्या की उपासनामात्र है। मन में विषयों के प्रति आसक्ति रखकर बाहर से कर्मत्याग करना धूर्त के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। अत एव कर्मेन्द्रियों का संयम चाहे जितना हो या न हो मनःसंयम सबसे पहले आवश्यक है। अत एव आँखें मूंदकर आसन लगाकर जो धारणा- ध्यान का आडम्बर करता है, अथवा जो गेरुए वेश से जीविका चलाने वाला व्यक्ति है, वह सब मिथ्या विडम्बनामात्र है। वह मिथ्याचारी, असदाचारी, पापाचारी, दुराचारी, दम्भाचारी आदि नामों से शिष्टजन द्वारा पुकारा जाता है।।6।।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्याऽऽरभतेऽर्जुन।

कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥7॥

सन्दर्भ – प्रस्तुत श्लोक द्वारा मुमुक्षु के लिये कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया जा रहा है।

अन्वय – अर्जुन! यः तु मनसा इन्द्रियाणि नियम्य असक्तः (सन्) कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगम् आरभते, सः विशिष्यते।।7।।

पदार्थ – अर्जुन = हे अर्जुन!, यः तु = परन्तु जो, मनसा = मन के द्वारा, इन्द्रियाणि = इन्द्रियों को, नियम्य = संयत करके, अनासक्तः = अनासक्त (सन्) रहकर, कर्मेन्द्रियैः = कर्मेन्द्रियों के द्वारा, कर्मयोगम् = कर्मयोग को, आरभते = सम्पादित करता है, सः = वह, विशिष्यते = श्रेष्ठ कहलाता है।।7।।

व्याख्या – जो पुरुष मन से इंद्रियों को संयत कर आसक्तिरहित होकर कर्मेन्द्रियों से श्रौत-स्मार्त कर्मों का अनुष्ठान करता है, वह पूर्वोक्त आत्मवञ्चक कर्मयोगी की अपेक्षा उत्तम है।।7।।

विशेष –

1. **'तु'** मिथ्याचारी की अपेक्षा प्रस्तुत श्लोक में व्याख्यायित पुरुष की श्रेष्ठता बतलाने के लिए **'तु'** शब्द प्रयुक्त है।

2. **'सः विशिष्यते'** मिथ्याचारी और विवेकी पुरुष का परिश्रम बराबर होने पर भी मिथ्याचारी के मन में विषयों के प्रति आसक्ति रहती है, किन्तु तत्त्वज्ञान प्राप्त करने की सम्भावना नहीं रहती है मिथ्याचारी सभी पुरुषार्थों से भ्रष्ट (शून्य) होता है, किन्तु विवेकी व्यक्ति निष्काम कर्मयोग का आलम्बन कर चित्तशुद्धि द्वारा परम पुरुषार्थ को प्राप्त कर सकता है। इसलिये वह श्रेष्ठ कहलाता है।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।

शरीरयात्रापि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः॥8॥

सन्दर्भ – मुमुक्षु पुरुष को नैष्कर्म्य की सिद्धि के लिये तथा मिथ्याचार की निवृत्ति के लिये कर्म की अवश्यकर्तव्यता का बोध श्लोक द्वारा कराया जा रहा है।

अन्वय – त्वं नियतं कर्म कुरु। हि अकर्मणः, कर्म ज्यायः। अकर्मणः ते शरीरयात्रा अपि च न प्रसिध्येत्।।8।।

पदार्थ – हे अर्जुन! त्वम्=तुम, नियतम्=नित्य, कर्म=कार्य, कुरु=करो। हि=क्योंकि, अकर्मणः=कर्म न करने की अपेक्षा, कर्म ज्यायः=कर्म करना श्रेष्ठ है। अकर्मणः=कर्म न करने पर, ते=तुम्हारी, शरीरयात्रा अपि च=शरीरयात्रा भी, न प्रसिध्येत्=निष्पादित नहीं हो सकेगी।।8।।

व्याख्या – हे अर्जुन! तुम विहित कार्य करो, कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है, यदि तुम कर्म न करोगे, तो तुम्हारी शरीरयात्रा भी सम्पन्न नहीं हो सकेगी।।8।।

विशेष –

1. **उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानम्'** – प्रस्तुत श्लोक का अभिप्रेत अर्थ यह है कि आत्मा का आत्मा के द्वारा उद्धार करो। आत्मा के मोक्ष के लिये ही तुम्हें कर्म करना चाहिए। दूसरे किसी प्रयोजन की सिद्धि के लिये कभी भी कार्य नहीं करना चाहिए।

2. **'शरीरयात्रा न प्रतिध्येत्'** – शरीररूपी रथ पर चढकर हमने जो यात्रा प्रारम्भ की है, वह कहाँ जाने के लिये है, इस पर विचार करो। क्या केवल इन्द्रियभोग और कर्मभोग करने के लिये है? तो ऐसी बात नहीं है। यह शरीर हमको मिला है उस असीम सत्ता का भजन करने के लिये, उसको पाने के लिए यही तो जीवन का परम लक्ष्य है। देहाभिमानशून्य पुरुष को सर्वत्र ही आत्मदर्शन होता है। निःशेष कर्म का त्याग करने से तो शरीरयात्रा भी निष्पादित न हो सकेगी, फिर क्रिया की परावस्था तो अत्यन्त दूर की बात है।।8।।

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥9॥

सन्दर्भ – प्रस्तुत श्लोक द्वारा काम्यकर्म की ही बन्धकता का निरूपण किया जा रहा है।

अन्वय – यज्ञार्थात् कर्मणः अन्यत्र अयं लोकः कर्मबन्धनः (भवति)। हे कौन्तेय! (त्वम्) मुक्तसङ्गः (सन्) तदर्थं कर्म समाचर।।9।।

पदार्थ – यज्ञार्थात्=ईश्वर की आराधना के निमित्त, कर्मणः=सम्पादित कर्म के अतिरिक्त, अन्यत्र=अन्य कर्म में, अयं लोकः=सांसारिक व्यक्ति, कर्मबन्धनः=कर्म से आबद्ध (भवति) होता है। हे कौन्तेय!, हे अर्जुन, (त्वम्) तुम, मुक्तसङ्गः=निष्काम, (सन्) होकर, तदर्थम् =ईश्वर के प्रीत्यर्थ, कर्म समाचार=कर्म का अनुष्ठान करो।।9।।

व्याख्या – परमेश्वर की प्रसन्नता के लिये किये जाने वाले कर्मों को छोड़कर दूसरे जितने

काम्य और निषिद्ध कार्य हैं, उनसे लोग जन्म आदि बन्ध को ही प्राप्त होते हैं। हे कौन्तेय! तुम आसक्ति को छोड़कर केवल भगवान् की प्रसन्नता के लिए कर्म करो।।9।।

विशेष –

1. **'कर्म समाचर'** ईश्वरप्रीत्यर्थ कृत कर्म से तुष्ट हुए ईश्वर के प्रसाद से चित्तशुद्धि एवं ज्ञानप्राप्ति कर हे अर्जुन! तुम मुक्त हो जाओगे, यह श्लोक का अभिप्रेत अर्थ है।।9।।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।

अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥10॥

सन्दर्भ – प्रस्तुत श्लोक में ब्रह्मा जी द्वारा कहे गये यज्ञों से देवाराधन का निरूपण किया जा रहा है।

अन्वय – पुरा प्रजापतिः सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा उवाच - अनेन प्रसविष्यध्वम्। एषः (यज्ञः) वः इष्टकामधुक् अस्तु।।10।।

पदार्थ – पुरा = सृष्टि के प्रारम्भ में, प्रजापतिः = प्रजापति ने, सहयज्ञाः = यज्ञ के साथ, प्रजाः = जीवों को, सृष्ट्वा = उत्पन्न करके, उवाच = कहा था - अनेन = इस यज्ञ के द्वारा, प्रसविष्यध्वम् = उत्तरोत्तर संवर्द्धित हो। एषः यज्ञः = यह यज्ञ, वः = तुम्हारे लिये, इष्टकामधुक् = अभीष्ट फलप्रद, अस्तु = होवे।।10।।

व्याख्या – सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा ने श्रुति द्वारा प्रतिपादित यज्ञों के साथ ब्राह्मण आदि वर्णों की उत्पत्ति कर उनसे कहा कि तुम लोग श्रौत और स्मार्त यज्ञों का अनुष्ठान कर देवताओं को प्रसन्न करो। देवताओं की प्रसन्नता के लिये किया गया यज्ञ तुम्हारे लिये अभीष्ट फलदायक हो।।10।।

विशेष –

1. **'एषः'** (यज्ञः) श्लोक में यज्ञ शब्द आश्रमोचित सभी कर्तव्य कर्म के उपलक्षण के रूप में प्रयुक्त है। इससे नित्य-नैमित्तिक कर्म गृहीत हैं।

2. **'इष्टकामधुक्'** पद के द्वारा काम्य कर्म प्रस्तावित नहीं है, क्योंकि **मा कर्मफलहेतुर्भूः** (2/47) श्लोक से काम्यकर्म की कर्तव्यता पूर्व ही निराकृत हो गई है।।10।।

देवान् भावयताऽनेन ते देवा भावयन्तु वः।

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥11॥

सन्दर्भ – यह यज्ञ हमारे इष्ट अर्थ के लिये कैसे होता है? इसे श्लोक द्वारा उपपन्न किया जा रहा है।

अन्वय – अनेन देवान् भावयत। ते देवाः वः भावयन्तु। परस्परं भावयन्तः परं श्रेयः अवाप्स्यथ।।11।।

पदार्थ – अनेन = इस यज्ञ के द्वारा, देवान् = देवताओं को, भावयत = संवर्द्धित करो। ते देवाः = वे देवतासमूह, वः = तुम्हें, भावयन्तु = वर्धित करेंगे। (इस प्रकार) परस्परं भावयन्तः =

पारस्परिक संवर्द्धन के द्वारा, परं श्रेयः = परम कल्याण को, अवाप्स्यथ = प्राप्त कर सकोगे।।11।।

व्याख्या – श्रौत और स्मार्त यज्ञ से तुम लोग इन्द्र आदि देवताओं को प्रसन्न रखो। यज्ञ से संतुष्ट हुए इन्द्र आदि देव अभीष्ट फल प्रदान द्वारा तुम्हें संतुष्ट करें। यों एक दूसरे की संतुष्टि से तुम लोग परस्पर कल्याण को प्राप्त करोगे।।11।।

विशेष –

1. **'परस्परं भावयन्तः'** इस वाक्यांश द्वारा देवता और प्रजा दोनों के परम श्रेय का विधान किया गया है, ऐसा प्रतीत होता है। किन्तु गूढार्थ यह है कि प्रजा के लिए ही उक्त धर्म के अनुष्ठान से लभ्य परम श्रेय का विधिवाक्य है, उनके ऊपर अनुग्रह करने वाले देवताओं के लिए नहीं है। क्योंकि देवगण उपदेश के विषय नहीं हैं, उन्हें आत्मतत्त्व का स्वतः ज्ञान प्राप्त है और वे जीवन्मुक्त भी हैं। अतः उनके लिये श्रेय की विधि उपयुक्त नहीं है। इससे 'सम्भावना' अर्थ में ही परस्पर पद का सम्बन्ध है। परम श्रेय की प्राप्ति की विधि में सम्बन्ध नहीं है, ऐसा जानना चाहिए।।11।।

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।

तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥12॥

सन्दर्भ – देवप्रीत्यर्थ यज्ञ न करने वाले प्रत्यवायी होते हैं, ऐसा निरूपण प्राप्त है।

अन्वय– हि यज्ञभाविताः देवाः वः इष्टान् भोगान् दास्यन्ते। तैः दत्तान् एभ्यः अप्रदाय य भुङ्क्ते, स स्तेन एव।।12।।

पदार्थ – हि = निश्चय ही, यज्ञभाविताः = यज्ञ द्वारा संवर्द्धित, देवाः = देवतागण, व = तुम्हें, इष्टान् = अभिलषित, भोगान् = भोगविषयों को, दास्यन्ते = प्रदान करेंगे। तैः = उनके द्वारा, दत्तान् = प्रदत्त भाग, एभ्यः = उनको, अप्रदाय = न देकर, यः = जो, भुङ्क्ते = भोग करता है, सः = वह, स्तेन एव = निश्चय ही चोर है।।12।।

व्याख्या – यज्ञों द्वारा देवता तुम्हें संभावित इष्ट भोग देंगे। उन देवताओं द्वारा प्रदत्त पदार्थों का उन्हें समर्पण किये विना जो कोई अपने आप उपभोग करता है, वह चोर ही है।।12।।

विशेष –

1. **'इष्टान् भोगान्'** – इच्छा के विषयीभूत पशु, पुत्र, स्त्री, धन, धान्य आदि इष्टभोग कहे जाते हैं।

2. **'स्तेन एव सः'** – देवताओं द्वारा इच्छित विषयों को प्राप्त करके जो फिर चरु, पुरोडाश आदि रूप से उन देवताओं को प्रदान नहीं करता है अर्थात् देवता, ऋषि और पितरों का यज्ञ, ब्रह्मचर्य और प्रजा से ऋण न चुकाकर जो अपने शरीर को पुष्ट करने के लिए खाता है, वह देवताओं का चोर और शिष्ट पुरुषों द्वारा निन्द्य ही होता है। देव और ब्राह्मण के धन को हरने वाले की जो गति होती है, उसको प्राप्त होता है, ऐसा अर्थ है।।12।।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।

भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥13॥

सन्दर्भ – प्रस्तुत श्लोक में पञ्च महायज्ञ के अनुष्ठान का फल और उसके असम्पादन से सम्भावित पाप को बतलाया जा रहा है।

अन्वय – यज्ञशिष्टाशिनः सन्तः सर्वकिल्विषैः मुच्यन्ते। ये तु पापाः आत्मकारणात् पचन्ति, ते अघं भुञ्जते।।13।।

पदार्थ – यज्ञशिष्टाशिनः = यज्ञावशेष भोजन करने वाले, सन्तः = साधु लोग, सर्वकिल्विषैः = सब पापों से, मुच्यन्ते = मुक्त हो जाते हैं। ये तु पापाः = किन्तु जो पापात्मा लोग, आत्मकारणात् = अपने ही लिये, पचन्ति = पाक करते हैं, ते = वे पापीजन, अधम् = पाप का ही, भुञ्जते = भोजन करते हैं।।13।।

व्याख्या – यज्ञ से अवशिष्ट अन्न का भक्षण करने वाले ब्राह्मण आदि सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाते हैं और जो केवल उदर पूर्ति के लिए पाक करते हैं, वे पाप का ही भक्षण करते हैं।।13।।

विशेष –

1. **'सर्वकिल्विषैः मुच्यन्ते'** – यज्ञशिष्टाशी ब्राह्मण सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है, इस कथन का शास्त्रीय पक्ष यह है कि ओखली, चक्की, चूल्हा, जलकुम्भी और बुहारी से होने वाली पाँच प्रकार की हत्याएँ पञ्च महायज्ञ के अनुष्ठान से नष्ट हो जाती हैं। वचन है –

कण्डनी पेषणी चुल्ली चोदकुम्भी च मार्जनी।

पञ्च सूना गृहस्थस्य पञ्चयज्ञात् प्रणश्यति॥

पापमुक्ति से चित्तशुद्धि होती है और चित्तशुद्धि से ज्ञान और मुक्ति की प्राप्ति होती है।

2. **'भुज्यते अधम्'** पञ्च महायज्ञ में तुच्छबुद्धि रखने वाले पापी ब्राह्मण पापरूप अन्न का भोजन करते हैं, अन्न का नहीं। ये लोग पापिष्ठतम होते हैं। वचन है–

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः।

इसी प्रकार अकेला खाने वाला केवल पापी होता है। वचन है –

केवलाघो भवति केवलादी॥13॥

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।

यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥14॥

सन्दर्भ– प्रस्तुत श्लोक द्वारा वेदविहित कार्य में जगत् के स्थितिहेतुत्व को स्थापित किया जा रहा है।

अन्वय– अन्नाद् भूतानि भवन्ति, पर्जन्यात् अन्नसमुद्भवः, यज्ञात् पर्जन्यः भवति, यज्ञः कर्मसमुद्भवः।।14।।

पदार्थ– अन्नात्=अन्न से, भूतानि=जीवगण, भवन्ति=उत्पन्न होते है, पर्जन्यात्=मेघ से,

अन्नसम्भवः=अन्न की उत्पत्ति होती है, यज्ञात्=यज्ञ से, पर्जन्यः=वृष्टि, भवति=होती है, (और) यज्ञः=यज्ञ, कर्मसमुद्भवः=कर्म से उत्पन्न होता है।।14।।

व्याख्या– श्रोत्रिय ब्राह्मण द्वारा शास्त्रानुसार विहित यज्ञ से वृष्टि होती है, वृष्टि से धान, यव आदि अन्नों की उत्पत्ति होती है, (स्त्री-पुरुषों द्वारा) उपभुक्त अन्न से प्राणी उत्पन्न होते हैं एवं वृष्टि द्वारा जगत् की उत्पत्ति में मुख्य कारणभूत यज्ञ वैदिक क्रिया से उत्पन्न होता है।।14।।

विशेष–

1. **'यज्ञः कर्मसमुद्भवः'**– वृष्टि और अन्न द्वारा जो यज्ञ जगत् के जीवन का हेतु है, वह कर्म से उत्पन्न हुआ है। यहाँ ऋत्विक्, यजमान आदि द्वारा सम्पादित होम, मन्त्र, तन्त्र आदि वैदिक क्रिया को कर्म कहा है। उससे जिसका सम्यक् उद्भव होता है, वह कर्मसमुद्भव कहलाता है। यह यज्ञ का अपूर्व लक्षण है।

2. यज्ञ से वृष्टि आदि के आविर्भाव का जो क्रम श्लोक में वर्णित है, वह स्मृतिशास्त्रसम्मत सिद्धान्त है। स्मृतिवाक्य है–

अग्नौ प्रास्ताऽऽहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।

आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥14॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।

तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥15॥

सन्दर्भ– जगत् की स्थिति का हेतु कर्म है– पूर्व श्लोक में प्रतिपादित विषय का विस्तार प्रकृत श्लोक में किया जा रहा है।

अन्वय– कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि, ब्रह्म अक्षरसमुद्भवं (विद्धि), तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म यज्ञे नित्यं प्रतिष्ठितम्।।15।।

पदार्थ– कर्म=(यज्ञादि के कारणभूत) कर्म को, ब्रह्मोद्भवम्=वेद से उत्पन्न हुआ, विद्धि=समझो, ब्रह्म=ब्रह्म को, अक्षरसमुद्भवम्=परमात्मा से उद्भूत, विद्धि=जानो। तस्मात्=अत एव, सर्वगतं=सर्वत्र अवस्थित अथवा सर्वार्थप्रकाशक, ब्रह्म=ब्रह्म, यज्ञे=यज्ञ में, नित्यम्=सर्वदा, प्रतिष्ठितम्=प्रतिष्ठित रहता है।।15।।

व्याख्या– यह तुम निश्चय जानो कि यज्ञ के हेतुभूत कर्म की उत्पत्ति वेद से हुई है और वेद परम ब्रह्म परमात्मा से हुआ है। इसलिये सभी वस्तुओं में प्रकाशकत्वरूप से अवस्थित वेद अश्वमेधान्त सम्पूर्ण कर्मों में स्थित है अर्थात् उन कर्मों का वेद ही कर्तव्य रूप से विधान करता है।।15।।

विशेष–

1. **'ब्रह्म अक्षरसमुद्भवम्'** सामान्य प्राणियों के निःश्वास की तरह विना प्रयत्न के ही परमेश्वर से वेद नामक ब्रह्म समुद्भूत हुआ है, बुद्धि के द्वारा नहीं। अतः अतीन्द्रिय विषयों में

वेदवाक्य ही एकमात्र प्रमाण है। वेद अपौरुषेय और यथार्थ ज्ञान के जनक हैं। यहाँ ब्रह्म से वेदाख्य ब्रह्म और 'अक्षर' पद से परब्रह्म का ग्रहण होता है। इसमें श्रुतिवाक्य प्रमाण है–

अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः॥15॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं वाऽनुवर्तयतीह यः।

अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥16॥

सन्दर्भ– इस श्लोक के द्वारा ईश्वर द्वारा प्रवर्तित इस चक्र का अनुवर्तन न करने वाले पुरुष का जीवन व्यर्थ है, को प्रतिपादित किया जा रहा है।

अन्वय– हे पार्थ! एवं प्रवर्तितं चक्रं यः इह न अनुवर्तयति, सः अघायुः इन्द्रियारामः मोघं जीवति।।16।।

पदार्थ– हे पार्थ=हे अर्जुन!, एवम्=इस प्रकार, प्रवर्तितम्=प्रवर्तित, चक्रम्=कर्मचक्र को, यः=जो, इह=इस लोक में, न अनुवर्तयति=अनुवर्तन नहीं करता है, सः=वह, अघायुः=पापायु, इन्द्रियारामः=इन्द्रियपरायण, मोघम्=व्यर्थ, जीवति=जीवन धारण करता है।।16।।

व्याख्या– इस प्रकार ईश्वर द्वारा सञ्चालित चक्र का विषयभोगलम्पट अत एव पापमय जीवन वाला जो पुरुष अनुवर्तन नहीं करता, उसका जीवन ही निष्फल है।।16।।

विशेष–

1.'**इन्द्रियारामः**'– इन्द्रियों के विषय में सर्वदा रमण करने वाला 'इन्द्रियाराम' कहलाता है।

2. '**अघायुः**'– विषयभोगलम्पट की आयु का फल पाप है अतः 'अघायु' है। ऐसे व्यक्ति को अघायु इसलिये भी कहते हैं कि वह कौए के समान और सेमर के वृक्ष के समान व्यर्थ-निष्फल ही जीवन व्यतीत करता है और प्रत्यवायदोष से अनेक कल्पों तक नरक को प्राप्त होता है।

इसलिये विवेकी, मुमुक्ष, अनात्मज्ञ ब्राह्मण को संसार से तरने के लिये और लोक के हित के लिये वेदोक्त कर्मों का अनुष्ठान अवश्य करना चाहिये, यह श्लोक का गूढार्थ है।।16।।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।

आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥17॥

सन्दर्भ– ज्ञाननिष्ठ पुरुष की कर्मकर्तव्यता शेष न रहने का उपपादन किया जा रहा है।

अन्वय– यः तु मानवः आत्मरतिः एव आत्मतृप्तः च आत्मनि एव सन्तुष्टः च स्यात् तस्य कार्यं न विद्यते।।17।।

पदार्थ– यः तु= किन्तु जो, मानवः=व्यक्ति, आत्मरतिः एव=आत्मा में ही रत, आत्मतृप्तः च=और आत्मा में ही तृप्त, आत्मनि एव=एकमात्र आत्मा में ही सन्तुष्टः च= सन्तुष्ट, स्यात्=रहता है, तस्य= उसका, कार्यम्=कर्तव्य कर्म, न विद्यते=शेष नहीं रहता है।

व्याख्या– जो पुरुष केवल आत्मा में ही क्रीडा करता है, आत्मा में तृप्त रहता है और आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है, उसके लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता है।।17।।

विशेष–

1. **'तु'** अव्यय अनात्मरति की व्यावृत्ति के लिये है।

2. **आत्मरतिः**जैसे नेत्र रूप में सन्तुष्ट होता है, वैसे ही बाहर और भीतर सर्वत्र वृत्ति के विषयभूत चिदानन्दैकरस ब्रह्म में ही सन्तुष्ट होता है। जैसे कामी इष्ट अर्थ में सन्तुष्ट होता है, वैसे ही जो आत्मा में ही सन्तुष्ट है, **'अहं ब्रह्मास्मि'** ऐसा अनुभव करता है, वह महात्मा आत्मरति कहलाता है। ऐसे आत्माराम कृतकृत्य यति के लिये कर्तव्यकर्म शेष नहीं रहता है, क्योंकि पूर्णकाम होने से उसके लिये कोई वस्तु प्राप्तव्य नहीं रहती है। ऐसा सिद्धसाधक या मुमुक्षु यति गीतोक्त वचन का विषय नहीं है।।17।।

नैव तस्य कृतेनाऽर्थो नाऽकृतेनेह कश्चन।

न चाऽस्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥18॥

सन्दर्भ– ब्रह्मवित् को कर्म करने से अर्थ की सिद्धि और न करने से अनर्थ की प्राप्ति नहीं होती है, इसे निष्पादित किया जा रहा है।

अन्वय– इह तस्य कृतेन कश्चित् अर्थः न एव (अस्ति)। अकृतेन च कश्चन न। सर्वभूतेषु अस्य कश्चित् अर्थव्यपाश्रयः न (अस्ति)।।18।।

पदार्थ– इह=इस लोक में, तस्य=उसका, कृतेन=कर्मानुष्ठान से, कश्चित्=कोई, अर्थः=प्रयोजन, न एव=नहीं ही रहता, (अस्ति) है। अकृतेन च=कर्म न करने से भी, कश्चन=कोई, प्रत्यवाय, न=नहीं है। सर्वभूतेषु=सभी प्राणियों में, अस्य=इसका, कश्चित्=कोई, अर्थव्यपाश्रयः=प्रयोजन अथवा सम्बन्ध, न=नहीं, (अस्ति) रहता है।।18।।

व्याख्या–सर्वत्र आत्मभाव को देखने वाले यति का कर्म करने से या न करने से कोई भी प्रयोजन शेष नहीं रहता है और किसी प्रयोजन के लिये वह न तो शिव आदि देवताओं में से और न ब्राह्मण आदि में से किसी का आश्रय लेता है।।18।।

विशेष–

1. **'अर्थव्यपाश्रयः न'** 'अर्थ' शब्द का अर्थ है– प्रयोजन और व्यपाश्रय शब्द का अर्थ है अवलम्बन या आश्रय। ब्रह्मवित् मुक्त का कहीं भी कुछ भी कर्म नहीं है। इस स्थिति में यदि कर्तव्य है तो वह ब्रह्मवित् ही नहीं है। जैसा कि स्मृतिवाक्य है–

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः।

नैवाऽस्ति कश्चित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित्॥18॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।

असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥19॥

सन्दर्भ– मुमुक्षु को कर्म अवश्य करना चाहिये, इसे उपपादित किया जा रहा है।

अन्वय– तस्मात् असक्तः (सन्) सततं कार्यं कर्म समाचर। हि पूरुषः असक्तः (सन्) कर्म आचरन् परम् आप्नोति।।19।।

पदार्थ– तस्मात्=इसलिये, असक्तः=आसक्तिशून्य, (सन्) होकर, सततं=सर्वदा, कार्यम्=कर्त्तव्य, कर्म=कर्म को, समाचार=सम्पादित करो। हि=क्योंकि, पूरुषः=मनुष्य, असक्तः=आसक्तिशून्य (सन्) होकर, कर्म आचरन्=कर्म करने पर, परम् आप्नोति=परमपद को प्राप्त करता है।19।।

व्याख्या– इसलिये फलविशेष की अभिलाषा न रखकर तुम निरन्तर कर्म करो, क्योंकि फलविशेष की अभिलाषा का त्यागकर कर्मानुष्ठान करने से पुरुष को मोक्ष प्राप्त होता है।।19।।

विशेष–

1. **'परमाप्नोति'** ईश्वरार्पणबुद्धि से सम्पादित विहितकर्मसमूह से चित्तशुद्धि, चित्तशुद्धि से ज्ञान एवं आत्मज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है, ऐसा क्रम है।

2. **धर्मेण पापमपनुदति–** साधक यति धर्म से पाप को नष्ट करता है।

3. **ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः–** पाप कर्म के क्षीण होने से पुरुषों को ज्ञान होता है।

4. **ज्ञानादेव तु कैवल्यम्–** ज्ञान से ही कैवल्य प्राप्त होता है- इत्यादि श्रुति– स्मृतिवाक्य भी इसी तथ्य का समर्थन करते हैं।।19।।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।

लोकसंग्रहमेवाऽपि संपश्यन् कर्तुमर्हसि॥20॥

सन्दर्भ– मुक्त पुरुष को भी लोकसंग्रह के लिये कर्म करना चाहिये, ऐसा श्लोक द्वारा प्रतिपादन किया जा रहा है।

अन्वय– हि जनकादयः कर्मणा एव संसिद्धिम् आस्थिताः। लोकसंग्रहम् एव अपि संपश्यन् कर्तुम् अर्हसि।।20।।

पदार्थ– हि=क्योंकि, जनकादयः=जनकादि ज्ञानीलोग, कर्मणा एव=कर्म के द्वारा ही, संसिद्धिम्=सम्यक् सिद्धि अर्थात् ज्ञान को, आस्थिताः=प्राप्त हुए हैं। लोकसंग्रहम् एव अपि=लोकसंग्रह की ओर भी अर्थात् लोगों को स्वधर्म में प्रवर्तित करने के प्रति भी संपश्यन्=दृष्टि रखकर, कर्तुम् अर्हसि=कर्म करना तुम्हारा कर्तव्य है।।20।।

व्याख्या– यतः जनक, अजातशत्रु आदि कर्म से ही ज्ञाननिष्ठा को प्राप्त हुए थे, अतः उनके आचार को देखकर या लोकसंग्रहरूप प्रयोजन के लिये (लोग उन्मार्गगामी न बनें, इसलिये) तुम्हें कर्म अवश्य करना चाहिए।।20।।

विशेष–

1. **'लोकसंग्रहम्'**– असन्मार्ग से लोगों की प्रवृत्ति का निवारण कर अथवा लोगों को अपने दृष्टान्त के द्वारा सत्पथ में चालित करना 'लोकसंग्रह' कहा जाता है। शब्दान्तर में लोक=पामरजन, उनका संग्रह=कुमार्ग से निवारण करना 'लोकसंग्रह' कहलाता है। दूसरे शब्दों में वृद्धाचार को प्रमाण रूप में प्रस्तुत करना लोकसंग्रह है। दृष्टान्त के रूप में जनकादि ज्ञानवृद्धों की प्रवृत्ति का स्मरण अर्जुन को कराया गया है।।20।।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।

स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥21॥

सन्दर्भ– मूढ लोग श्रेष्ठ पुरुष का अनुसरण करते हैं, इसे स्थापित किया जा रहा है।

अन्वय– श्रेष्ठः यत् यत् आचरति, इतरः जनः तत् तत् एव। सः यत् प्रमाणं कुरुते लोकः तत् अनुवर्तते।।21।।

पदार्थ– श्रेष्ठः जनः=श्रेष्ठ आदमी, यत्-यत्=जो-जो, आचरति=आचरण करते हैं, इतरः जनः=दूसरे साधारण लोग, तत् तत् एव =उस-उस कार्य को ही करते हैं। सः=वह श्रेष्ठ आदमी, यत्=जो, प्रमाणं कुरुते=प्रमाण मानते हैं या निश्चय करते हैं, लोकः=सब लोग, तत्=उसका ही, अनुवर्तते=अनुसरण करते हैं।।21।।

व्याख्या– श्रेष्ठ पुरुष श्रौत-स्मार्तरूप जिस-जिस कर्म का अनुष्ठान करता है, साधारण लोग भी उसी का अनुष्ठान करते हैं और वह जिस शास्त्र को प्रमाण मानता है, उसी को प्राकृत पुरुष भी प्रमाण मानते हैं।।21।।

विशेष–

1. **'यः श्रेष्ठः'** वेदशास्त्रों को पढ़ने और पढ़ाने में, उसका अर्थ समझने और समझाने में एवं उसमें विहित कर्मों का अनुष्ठान करने और कराने में जो दक्ष है, ऐसा कुल, शील आदि सम्पन्न द्विज यहाँ 'श्रेष्ठ' पद का अर्थ है।

2. **'लोकः'** यहाँ मूढ व्यक्ति के अर्थ में लोक शब्द का प्रयोग हुआ है।।21।।

न मे पार्थाऽस्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।

नाऽनवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥22॥

सन्दर्भ– लोकसंग्रह के लिये भगवान् की कर्म में प्रवृत्ति को स्थापित किया जा रहा है।

अन्वय– हे पार्थ! त्रिषु लोकेषु मे किञ्चन कर्तव्यं न अस्ति। अनवाप्तम् अवाप्तव्यं न (अस्ति), (तथापि) अहं कर्मणि वर्त एव च।।22।।

पदार्थ– पार्थ=हे पार्थ!, त्रिषु लोकेषु=तीनों लोकों में, मे=मेरा, किञ्चन=कुछ भी, कर्त्तव्यम्=कर्तव्य, न अस्ति=नहीं है। अनवाप्तम्=अप्राप्त, अवाप्तव्यम्=प्राप्त करने योग्य, न अस्ति=नहीं है, (तथापि) अहम्=मैं, कर्मणि=कर्म में, वर्त एव च=लगा ही रहता हूँ।।22।।

व्याख्या– हे पार्थ! तीनों लोकों में किसी वस्तु की प्राप्ति के लिये मेरा कुछ भी कर्तव्य नहीं है और ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जो कर्म से प्राप्त होने वाली हो और मुझे प्राप्त न हुई हो। फिर भी मैं कर्म करता ही रहता हूँ।।22।।

विशेष–

1. **नानवाप्तमवाप्तव्यम्–** अनवाप्त-अप्राप्त, अवाप्तव्य-प्राप्तव्य। अप्राप्त होने से कुछ भी अवाप्तव्य (प्राप्तव्य) वस्तु विद्यमान नहीं है। जैसे घर में स्थित द्रव्य घर के स्वामी का होता है, वैसे ही ब्रह्माण्ड में स्थित सब वस्तु ब्रह्माण्ड के स्वामिस्वरूप मुझ को प्राप्त ही है, कुछ भी प्राप्तव्य नहीं है।

2. **'च'** चकार हि=क्योंकि, तथापि के अर्थ में प्रयुक्त है

3. **'कर्मणि'**–वैदिक और लौकिक कर्म में मेरी प्रवृत्ति प्रत्यक्षसिद्ध है।।22।।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।

मम वर्त्माऽनुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥23॥

सन्दर्भ– प्रस्तुत श्लोक में श्रीकृष्ण अर्जुन को कर्म में अपनी प्रवृत्ति को प्रदर्शित कर रहे हैं।

अन्वय– पार्थ! यदि अहं जातु अतन्द्रितः सन् कर्मणि न वर्त्तेयम्, हि मनुष्याः सर्वशः मम वर्त्म अनुवर्तन्ते।।23।।

पदार्थ– पार्थ!=हे अर्जुन!, यदि अहम्=यदि मैं, जातु=कदाचित्, अतन्द्रितः=आलस्यरहित होकर, कर्मणि=कर्म में, न वर्तेयम्=प्रवृत्त न होऊँ, हि=तो; मनुष्याः=सारे मनुष्य, सर्वशः=सब प्रकार से, मम वर्त्म=मेरे मार्ग का, अनुवर्तन्ते=अनुसरण करेंगे।।23।।

व्याख्या– कदाचित् मैं आलस्य से रहित होकर कर्म न करूँ, तो हे पार्थ! सब मनुष्य मुझे कर्म रहित देखकर मेरा अनुसरण करेंगे, क्योंकि लोग मेरे ही मार्ग का अनुसरण करते हैं।।23।।

विशेष–

1. **'मम वर्त्माऽनुवर्तन्ते'**– 'अश्रेष्ठः श्रेष्ठानुसारी' अर्थात् अश्रेष्ठ श्रेष्ठानुसारी होता है, ऐसा नियम होने से सब मनुष्य 'यह भगवान् सर्वज्ञ हैं, ऐसा समझकर मुझ में सर्वज्ञ बुद्धि से मेरे मार्ग पर चलते हैं। इसलिये मेरे कर्म के त्याग से वे स्वयं भी कर्म त्याग देंगे। इससे लोक की क्षति होगी। इसलिये मुझे कर्म करना चाहिये, ऐसा भाव है।।23।।-

षष्ठ इकाई (तृतीय अध्याय 24-43 श्लोक)

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।

सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥24॥

सन्दर्भ– श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा कर्म का त्याग करने पर लोकनाश तथा वर्णसांकर्यदोष प्रसक्त होगा, ऐसा श्रीकृष्ण अर्जुन को समझाते हैं।

अन्वय– चेत् अहं कर्म न कुर्याम्, इमे लोकाः उत्सीदेयुः। अहं वर्णसङ्करस्य च कर्त्ता स्याम्। इमाः प्रजाः उपहन्याम्।।24।।

पदार्थ–चेत्=यदि, अहम्=मैं, कर्म न कुर्याम्=कर्म न करूँ (तो) इमे=ये सारे, लोकाः=लोक, उत्सीदेयुः=नष्ट हो जायेंगे। (तब) अहम्=मैं, वर्णसंकरस्य=वर्णसंकर का, कर्त्ता स्याम्=कर्त्ता बन जाऊँगा, इमाः प्रजाः=इन सारी प्रजा को, उपहन्याम्=नष्ट कर दूँगा।।24।।

व्याख्या– यदि अपने को कृतकृत्य समझकर मैं वैदिक कर्म का त्याग कर दूँ, तो ये सब लोक उच्छिन्न हो जायेंगे। इतना ही नहीं, किन्तु मैं वर्णसंकर का उत्पादक होऊँगा और सारी प्रजा की दुर्गति का भी हेतु होऊँगा।।24।।

विशेष–

1. **'इमे लोकाः उत्सीदेयुः'**– अभिप्राय यह है कि मनु प्रभृति जो मेरे अनुवर्ती हैं, उनका भी कोई कर्म नहीं रहेगा। ऐसा होने पर **अन्नाद् भवति भूतानि** (गीता 3/14-16) इस सृष्टि चक्र के नियम के अनुसार यज्ञ इत्यादि कर्म न किये जाने पर हविर्भाग के अभाव के कारण देवता भी क्षीण हो जायेंगे एवं इससे वृष्टि और अन्न प्रभृति के अभाव के कारण मनुष्य आदि प्राणियों की उत्पत्ति नहीं होगी एवं जिनकी उत्पत्ति हुई है, उनकी भी रक्षा विधिवत् न हो पायेगी। इस प्रकार सब लोक उच्छिन्न हो जायेंगे।

2. **'संकरस्य च कर्ता'**– वेदादि शास्त्रों में जाति तथा वर्ण के भेद के आधार पर जिन पृथक्-पृथक् कर्मों का विधान है, उन व्यवस्थापक कर्मों के असम्पादन से समस्त जाति तथा वर्ण एक हों जायेंगे। अतः वर्णों में संकीर्णता आ जायेगी। इससे मैं ही मूलतः वर्णसंकर का कर्त्ता बन जाऊँगा।

इस कर्मत्याग से उक्त अनर्थपरम्परा की प्राप्ति है। इसलिये कृतकृत्य मुझे, तुम्हें और किसी अन्य आत्मज्ञानी को भी लोक के हित के लिये कर्म करना चाहिये। श्लोक का यह गूढार्थ है।।24।।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।

कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥25॥

सन्दर्भ– आसक्ति का परित्याग कर विद्वान् को लोकसंग्रहार्थ कर्म करना चाहिए, ऐसा उपसंहृत उपदेश प्रस्तुत है।

अन्वय– हे भारत! कर्मणि सक्ताः अविद्वांसः यथा कुर्वन्ति, विद्वान् असक्तः (सन्)

लोकसंग्रहं चिकीर्षुः तथा कुर्यात्।।25।।

पदार्थ– भारत=हे भारत!, कर्मणि=कर्म में, सक्ताः=आसक्त, अविद्वांस=अज्ञानीजन, यथा=जिस प्रकार, कुर्वन्ति=अनुष्ठान करते हैं, विद्वान्=ज्ञानी व्यक्ति, असक्तः=अनासक्त, (सन्) होकर, लोकसंग्रहं चिकीर्षुः=लोकसंग्रह की इच्छा से, तथा=उसी प्रकार, कुर्यात्=कर्म करे।।25।।

व्याख्या– हे भारत! जैसे पुत्र, कलत्र आदि में अभिमान रखने वाले अतत्त्वज्ञ पुरुष कर्म करते हैं, वैसे ही विद्वान् लोकसंग्रह करने की इच्छा से अनासक्त होकर कर्म करे।।25।।

विशेष–

1. **'भारत!'**, हे अर्जुन! तुम श्रेष्ठ भरतवंश में उत्पन्न हुए हो इसलिये अपना मत अर्थात् ज्ञान प्राप्त कर उसमें रत रहने की इच्छा कर रहे हो। इसलिये मैं जिस प्रकार शास्त्र का तात्पर्य कह रहा हूँ, उसे समझने में तुम अवश्य ही योग्य हो, इसे सूचित करने के लिये 'भारत' शब्द के द्वारा भगवान् ने सम्बोधन किया है।

2. **'सक्तः, असक्तः'** नियम तथा उत्साहपूर्वक कर्म करने के विषय में सक्त एवं असक्त दोनों ही बराबर हैं किन्तु कर्मफल में आसक्ति तथा अनासक्ति के विषय में ही दोनों में अन्तर है। अज्ञ व्यक्ति कर्म का फल स्वयं भोग करने के लिये कर्म करता है। किन्तु विद्वान् व्यक्ति आसक्तिशून्य होकर केवल लोकसंग्रह के लिये कर्म करता है।

शब्दान्तर में कर्तृत्व के अभिनिवेश से रहित होना, फल की अनपेक्षा और उसकी सिद्धि एवं असिद्धि में हर्ष और विषाद से रहित होना ही तत्त्वज्ञ और अज्ञ में विलक्षणता है। नियम से कर्म करना तो दोनों में समान है, यह अभिप्रेत अर्थ है।।25।।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।

योजयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्।।26।।

सन्दर्भ– विद्वान् को अज्ञों से बुद्धिभेद नहीं करना चाहिये, इसे प्रतिपादित किया जा रहा है।

अन्वय– कर्मसङ्गिनाम् अज्ञानां बुद्धिभेदं न जनयेत्। (अपितु) विद्वान् युक्तः (सन्) सर्वकर्माणि समाचरन् योजयेत्।।26।।

पदार्थ– कर्मसङ्गिनाम्=कर्म में आसक्त, अज्ञानाम्=अज्ञानियों का, बुद्धिभेदम्=बुद्धिभेद, न जनयेत्=न, उत्पन्न करे। (अपितु) किन्तु विद्वान्=ज्ञानी पुरुष, युक्तः=योगयुक्त, (सन्) होकर सर्वकर्माणि=सारे कर्मों को, समाचरन्=सम्पादित करते हुए, योजयेत्=अज्ञानियों को कर्म में प्रवृत्त रखे।।26।।

व्याख्या–योगयुक्त विद्वान् को कर्म में अभिनिवेश रखने वाले मनुष्यों की बुद्धि को विचलित नहीं करना चाहिए, अपितु सब श्रौत कर्मों का अनुष्ठान करते हुए उनकी उन कर्मों में प्रीति करानी चाहिए।।26।।

विशेष–

1. **'न बुद्धिभेदं जनयेत्'**– सबके प्रति तत्त्वज्ञान का उपदेश सामयिक नहीं है। अतः अज्ञानी अर्थात् कर्म में आसक्त पुरुषों को यह उपदेश देकर कि 'आत्मा अकर्ता है' बुद्धिभेद नहीं करना चाहिए। इस प्रकार के उपदेशात्मक वाक्यों से उनकी बुद्धि चलायमान न करें। अपितु अज्ञानी पुरुष को कर्म में लगाकर उससे कर्म कराना चाहिए।

2. **'युक्तः समाचरन्'**– अज्ञ को कैसे कर्मयुक्त किया जाय? इसी का समाधान किया जा रहा है कि योगयुक्त पुरुष अवहित होकर स्वयं कर्मों का आचरण करते हुए उनसे कर्म कराये। बुद्धि को चलायमान करने पर कर्म से उनकी श्रद्धा हट जायेगी और उनको ज्ञानोत्पत्ति न होने के कारण कर्मत्याग करने से उनके दोनों ही मार्ग नष्ट हो जायेंगे। कर्मफल की स्तुति करके कर्म करने की इच्छा का ही सम्पादन कराये, यह भाव है।।26।।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।

अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते॥27॥

सन्दर्भ– प्रस्तुत श्लोक में अविद्वान् पुरुष के स्वरूप का निरूपण किया जा रहा है।

अन्वय– प्रकृतेः गुणैः सर्वशः कर्माणि क्रियमाणानि। (किन्तु) अहङ्कारविमूढात्मा अहं कर्त्ता इति मन्यते।।27।।

पदार्थ– प्रकृतेः=प्रकृति के, गुणैः=गुणों के द्वारा, सर्वशः=सब प्रकार के लौकिक या शास्त्रीय, कर्माणि=कर्म, क्रियमाणानि=सम्पन्न होते हैं। (किन्तु) अहंकारविमूढात्मा=अहंकार से विमूढचित्त पुरुष, अहं कर्त्ता=मैं कर्त्ता हूँ, इति=ऐसा, मन्यते=मानता है।।27।।

व्याख्या– ये सारे कर्म शरीर, इन्द्रिय आदि माया के कार्यों से ही किये जाते हैं, परन्तु अहंकार से विमोहित अन्तःकरण वाला पुरुष मैं ही करने वाला हूँ, ऐसा मानता है।।27।।

विशेष–

1. **'प्रकृतेः गुणैः'** सत्त्व, रजस् और तसम् इन तीनों की साम्यावस्था को प्रधान या प्रकृति कहा जाता है। इसे ही सत्त्वरजस्तमोगुणमयी माया अथवा मिथ्या अज्ञानरूपा अनिर्वचनीया परमेश्वर की शक्ति कहा जाता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा है–

मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनन्तु महेश्वरम् (4/10)

अर्थात् माया को प्रकृति एवं माया के अधीश्वर को महेश्वर जानो। हे अर्जुन! अज्ञ और विद्वान् अर्थात् प्राणी मात्र के सभी कर्म प्रकृति के अधीन हैं। वह प्रकृति के वशीभूत होकर कर्म करता है।।27।।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।

गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥28॥

सन्दर्भ– प्रस्तुत श्लोक में विद्वान् पुरुष के स्वरूप का निरूपण किया जा रहा है।

अन्वय– महाबाहो! गुणकर्मविभागयोः तत्त्ववित् तु गुणाः गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते।।28।।

पदार्थ– महाबाहो=हे महाबाहो!, गुणकर्मविभागयोः=गुण और कर्म के विभाग के, तत्त्ववित्=ज्ञानी व्यक्ति, तु=तो, गुणाः=इन्द्रियाँ, गुणेषु=विषयों में, वर्तन्ते=प्रवृत्त रहती हैं, इति मत्वा=ऐसा मानकर, न सज्जते=कर्तृत्वाभिनिवेश नहीं करते हैं।।28।।

व्याख्या– हे महाबाहो, गुण और कर्मों के विभाग के स्वरूप को जानने वाला विद्वान् गुण (चक्षु आदि) - गुणी में (रूपादिविषयों में) अनुवृत्त होते हैं, ऐसा समझकर आसक्त नहीं होता है।।28।।

विशेष–

1. **'महाबाहो!'**, हे शक्तिशाली अर्जुन! तुमने केवल बाहु के द्वारा ही निवात, कवच आदि असुरों को पराजित किया है, इतना ही नहीं, तुम आत्मशक्ति के द्वारा अज्ञानरूप असुर को भी नष्ट कर तत्त्ववित् बन सकते हो, यही कहने के अभिप्राय से भगवान् ने यहाँ पर अर्जुन को 'महाबाहो' कहकर सम्बोधित किया है।

2. **'तु'** तत्त्ववित् विद्वान् को अविद्वान् से व्यावृत करने के लिये 'तु' शब्द का प्रयोग किया गया है।

3. **'गुणकर्मविभागयोः'** 'गुण' शब्द का अर्थ है त्रिगुण का कार्य। यहाँ कार्य (गुण) शब्द से पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, मन, अहंकार और बुद्धि ये तेरह करण गृहीत हैं। गुण और उसके कार्यभूत इन्द्रियादि करणों से आत्मा विलक्षण है। करणात्मक समस्त गुण (तेरह करण) विषयरूप गुण में प्रवृत्त होते हैं। चूँकि वे दोनों ही प्रकृति के गुण हैं, इसलिये स्वभावतः ही वे विकारी हैं। किन्तु निर्विकार आत्मा निर्विकारी है।

इस प्रकार गुण तथा कर्म दोनों का विभाग 'गुण' शब्द का अर्थ है। आत्मा गुण तथा कर्म दोनों से पृथक् कूटस्थ, असंग तथा केवल चित्स्वरूप से अवस्थित है।।28।।

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।

तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्।।29।।

सन्दर्भ– प्रस्तुत श्लोक में उपपादन किया जा रहा है कि ज्ञानी द्वारा अज्ञ व्यक्ति कभी विचलित नहीं किया जाना चाहिए इसका!

अन्वय– प्रकृतेः गुणसंमूढाः गुणकर्मसु सज्जन्ते। कृत्स्नवित् तान् अकृत्स्नविदः मन्दान् न विचालयेत्।।29।।

पदार्थ– प्रकृतेः=प्रकृति के, गुणसंमूढाः=गुणों से विमोहित मूढ लोग, गुणकर्मसु=गुण और उनके कर्मों में, सज्जन्ते=आसक्त होते हैं। कृत्स्नवित्=सर्वज्ञ अर्थात् आत्मतत्त्वज्ञ व्यक्ति को, तान्=उन, अकृत्स्नविदः=अल्पबुद्धि, मन्दान्=मूढ लोगों को, न विचालयेत्=विचलित नहीं करना

चाहिए।।29।।

व्याख्या– माया के कर्मों में अभिनिवेश रखने वाले पामरजन इन्द्रियों द्वारा किये जाने वाले कार्यों में आसक्ति करते हैं। उन मन्द अतत्त्वज्ञ पुरुषों को पूर्ण तत्त्वज्ञ कभी भी विचलित न करे।।29।।

विशेष–

1. **'कृत्स्न, अकृत्स्न'**– वार्त्तिककार सुरेश्वराचार्य ने इन दो शब्दों की व्याख्या आत्मा और अनात्मा के अर्थ में क्रमशः की है। अखण्ड, अद्वय आत्मा को जानने वाला 'कृत्स्नवित्' है। अनात्मवस्तु का ज्ञान असम्पूर्ण रहने के कारण उसका ज्ञाता 'अकृत्स्नवित्' कहलाता है।

2. **न विचालयेत्**– अभिप्राय यह है कि विहित कर्मानुष्ठान न करने से चित्तशुद्धि नहीं होती है। चित्तशुद्धि न होने से तत्त्वज्ञान का उदय नहीं होता है एवं ज्ञान का उदय न होने से अज्ञान विनष्ट नहीं होता है। अतः जब तक चित्तशुद्धि न हो, मन्द बुद्धि पुरुष को यदि कोई तत्त्वज्ञ पुरुष निरन्तर वेदान्तवाक्य **'ब्रह्म सत्यं, जगन्मिथ्या'** सुनाता रहे तो वह वेदान्तवाक्य का तात्पर्य कभी नहीं समझ पायेगा। परिणामस्वरूप शास्त्रविहित कर्म के प्रति उसकी श्रद्धा शिथिल हो सकती है। इस प्रकार की अवस्था में वह उभयपथ (कर्ममार्ग तथा ज्ञानमार्ग) से भ्रष्ट हो जायेगा। अतः अल्पज्ञ व्यक्ति को बुद्धिभेद कर विचलित नहीं करना चाहिए। अपितु स्वयं नाट्यकार की तरह कर्म कर अज्ञ व्यक्ति को कर्म में प्रवृत्त करें, यह श्लोक का गूढार्थ है।।29।।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याऽध्यात्मचेतसा।

निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः।।30।।

सन्दर्भ– शोकरहित होकर अपने धर्म के अनुष्ठान का उपदेश, श्रीकृष्ण का अर्जुन के प्रति वर्णित है।

अन्वय– अध्यात्मचेतसा मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य निराशीः निर्ममः विगतज्वरः भूत्वा युध्यस्व।।30।।

पदार्थ– अध्यात्मचेतसा=अध्यात्मचित्त द्वारा, मयि=मुझ में, सर्वाणि=समस्त, कर्माणि=कर्मों को, संन्यस्य=समर्पित करके, निराशीः=निष्काम, निर्ममः=ममताशून्य, विगतज्वरः=त्यक्तशोक, भूत्वा=होकर, युध्यस्व=युद्ध करो।।30।।

व्याख्या– तुम अध्यात्मबुद्धि से निखिल क्रियाकलापों को मेरे अर्पण करके एवं आशा, ममता और शोक का परित्याग कर युद्ध के लिये कटिबद्ध हो जाओ।।30।।

विशेष–

1. **'निराशीः'**– कर्मफल के प्रति निरपेक्षभावना को निराशीः कहते हैं।

2. मधुसूदनसरस्वती का कथन है कि ईश्वरार्पण एवं निष्कामत्व बुद्धि मुमुक्षु के लिये कालनिरपेक्ष है। अर्थात् मुमुक्षु को समस्त कर्मों में इस विशुद्धभाव का अपरिहार्य अनुपालन उपदिष्ट

है। किन्तु निर्ममत्व तथा विगतज्वरत्व को केवल युद्धस्थल के लिये ही कहा गया है। हे अर्जुन! समस्त कर्मों को निष्काम होकर भगवदर्पणबुद्धि से ही तो करना चाहिए, अधिकन्तु इस युद्धस्थल में तुम्हें निर्मम (ममताविहीन) एवं विगतज्वर (शोकविहीन) भी होना पड़ेगा, यही भगवान् के कथन का अभिप्राय है।।30।।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।

श्रद्धावन्तोऽनुसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥31॥

सन्दर्भ– प्रभु द्वारा उपदिष्ट मार्ग का अनुसरण करने वालों के लिये उद्घाटित मोक्षद्वार का प्रकाशन किया जा रहा है।

अन्वय– ये मानवाः श्रद्धावन्तः अनुसूयन्तः (सन्तः) मे इदं मतं नित्यम् अनुतिष्ठन्ति, ते अपि कर्मभिः मुच्यन्ते।।31।।

पदार्थ– ये=जो, मानवाः=लोग, श्रद्धावन्तः=श्रद्धावान्, अनुसूयन्तः (सन्तः)=दोषदर्शन की प्रवृत्ति से शून्य होकर, मे=मेरे, इदं मतम्=इस अनुशासन को, नित्यम्=सर्वदा, अनुतिष्ठन्ति=अनुपालित करते हैं, ते अपि=वे भी, कर्मभिः=कर्मों से, मुच्यन्ते= मुक्त हो जाते हैं।।31।।

व्याख्या– जो लोग मेरे इस आदेश का अनसूयापूर्वक श्रद्धा के साथ सदा अनुसरण करते हैं, वे भी नाना दुःखों के कारणभूत पुण्य-पाप-कर्मों से छुटकारा पा जाते हैं।।31।।

विशेष–

1. **'नित्यमनुतिष्ठन्ति'**– मनुष्य क्षणभर भी विना कर्म किये नहीं रह सकता है (गीता3/5) इस वचन के अनुसार वह निरन्तर जो कुछ करता है, वह यदि कर्मयोग में परिणत हो जाय तभी वह निष्कामयोग में परिवर्तित हो जायेगा। **स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः**– पातञ्जलसूत्र (1/14) का अर्थ इस श्लोक में प्रतिध्वनित हो रहा है।

2. **'तेऽपि मुच्यन्ते'**– ज्ञानी लोग तो मुक्तिलाभ करते ही हैं, किन्तु निष्कामकर्मयोग के अनुयायी कर्मयोगी भी मुक्त हो सकते हैं। इसे ही **'अपि'** शब्द के द्वारा सूचित किया गया है।।31।।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नाऽनुतिष्ठन्ति मे मतम्।

सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः॥32॥

सन्दर्भ– प्रस्तुत श्लोक में 'भगवान् से द्वेष' विनाश का कारण होता है, इसका प्रतिपादन हो रहा है।

अन्वय– ये तु मे एतत् मतम् अभ्यसूयन्तः न अनुतिष्ठन्ति, तान् अचेतसः सर्वज्ञानविमूढान् नष्टान् विद्धि।।32।।

पदार्थ– ये तु= परन्तु जो लोग, मे=मेरे, एतत् मतम्=इस मत को अनुसूयन्तः=दोषदृष्टिपरायण होकर, न अनुतिष्ठन्ति=अनुसरण नहीं करते हैं, तान्=उनको, अनचेतसः=विवेकशून्य, सर्वज्ञानविमूढान्=सर्वज्ञानविरहित, नष्टान्=पुरुषार्थभ्रष्ट, विद्धि=समझो।।32।।

व्याख्या– जो ब्राह्मण आदि अविवेकवश दूषित करते हुए मेरे इस शासन का अनुष्ठान (पालन नहीं) करते हैं, उन अविवेकियों को ब्रह्मज्ञान में मूढ और पुण्यलोक से भ्रष्ट जानो।।32।।

विशेष–

1. **'तु'** गीता के पूर्ववर्ती श्लोक (3/31) में कहे गये मुमुक्षुओं से विपरीत आचरण करने वाले प्रसूयापरवश लोगो को 'तु' शब्द से व्यावृत्त किया गया है। पूर्वश्लोक में विधिरूप में प्रतिपादित तथ्य का निषेधपक्ष प्रस्तुत श्लोक में वर्णित है। विपरीतबुद्धि विनाश की उत्पादिका है, श्लोक की यह गूढाभिसन्धि है।।32।।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।

प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥33॥

सन्दर्भ– प्रस्तुत श्लोक में ज्ञानी भी प्रकृति का उल्लंघन नहीं कर सकता है, इसका उपपादन किया जा रहा है।

अन्वय– ज्ञानवात् अपि स्वस्याः प्रकृतेः सदृशं चेष्टते। भूतानि प्रकृतिं यान्तिः। निग्रहः किं करिष्यति।।33।।

पदार्थ– ज्ञानवान् अपि= ज्ञानी पुरुष भी, स्वस्याः=अपनी, प्रकृतेः=प्रकृति के, सदृशम्=अनुरूप, चेष्टन्ते=चेष्टा करते हैं। भूतानि=समस्त प्राणी, प्रकृतिं यान्ति=प्रकृति का अनुसरण करते हैं। निग्रहः=इन्द्रियनिग्रह, किं करिष्यति=क्या करेगा?।।33।।

व्याख्या– ब्रह्मवित् पुरुष भी शरीरस्थिति में हेतुभूता वासना के अनुसार चेष्टा करता है (अज्ञानियों के लिये तो कहना ही क्या है?) प्रत्येक प्राणी अपनी-अपनी रागद्वेषात्मक प्रकृति के अनुसार चेष्टा करते ही रहते हैं। इसलिये क्षणिक निग्रह क्या करेगा?।।33।।

विशेष–

'प्रकृतिः'– पूर्वजन्मकृत धर्म, अधर्म, ज्ञान, इच्छा प्रभृति का संस्कार जो वर्तमान जन्म में अभिव्यक्त होता है, उसे प्रकृति कहते हैं। दूसरे शब्दों में जन्म-जन्मान्तर की पुञ्जीभूत कर्मवासना को 'प्रकृति' कहा गया है। प्रकृति का निवारण करना दुःसाध्य है। ब्रह्मवित् पुरुष जब प्रकृति का अतिक्रमण नहीं कर सकता है, तब मूढ व्यक्ति के विषय में विचार करना असमीचीन है।।33।।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।

तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥34॥

सन्दर्भ– प्रस्तुत श्लोक में राग-द्वेष की बाधकता का निरूपण किया जा रहा है।

अन्वय– इन्द्रियस्य इन्द्रियस्य अर्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ। तयोः वशं न आगच्छेत्। हि तौ अस्य परिपन्थिनौ।।34।।

पदार्थ– इन्द्रियस्य=इन्द्रिय का, इन्द्रियस्य अर्थे=इन्द्रियों के विषयों में, रागद्वेषौ=अनुराग और द्वेष, व्यवस्थितौ=व्यवस्थित हैं। परन्तु तयोः=उनके, वशं न आगच्छेत्=वशवर्ती होना ठीक नहीं

है। हि=क्योंकि, तौ=वे, अस्य=मुमुक्षु जीव के, परिपन्थिनौ=परम विरोधी हैं।।34।।

व्याख्या– सभी श्रोत्र आदि इन्द्रियों के शब्दादि विषयों में प्रीति एवं क्रोध नियमतः रहते हैं। इसलिये उनके अधीन कभी नहीं होना चाहिए। क्योंकि वे राग और द्वेष मुमुक्षु के मोक्षमार्ग के विरोधी हैं।।34।।

विशेष– रागद्वेषौ व्यवस्थितौ– निहितार्थ के मूल में प्रश्न है कि यदि पुरुष की प्रवृत्ति प्रकृति के अधीन है, तो शास्त्र के सारे विधि-निषेध व्यर्थ प्रतीत होते हैं? उत्तर है– प्रत्येक इन्द्रिय का अपने-अपने अनुकूल विषय में अनुराग और प्रतिकूल विषय में विद्वेष व्यवस्थित अर्थात् अवश्यंभावी है। उसके द्वारा प्रकृति प्राणियों की प्रवृत्ति और निवृत्ति का सम्पादन करती है, यही भूतों की प्रकृति है।

तथापि रागद्वेष के वशीभूत न होना, यह शास्त्रों का अनुशासन है। क्योंकि मुमुक्षु के ये प्रतिपक्षी हैं।

फलितार्थ है कि विषयों के स्मरण आदि के द्वारा राग-द्वेष उत्पन्न करके प्रकृति अनवहित पुरुष को बलपूर्वक अत्यन्त गम्भीर स्रोतस्वरूप अनर्थ में लगा देती है, परन्तु शास्त्र उसके पहले ही विषयों में राग-द्वेष के प्रतिबन्धक परमेश्वर के भजनादि में उसे लगा देते हैं।

अत एव गम्भीर विषय-स्रोत में पड़ने के पहले ही मनुष्य को नौका का आश्रय प्राप्त होने के समान वह अनर्थ को नहीं प्राप्त होता है। अत एव पशु आदि के समान स्वाभाविकी प्रवृत्ति का परित्याग कर धर्म में प्रवृत्त होना ही कर्तव्य है।।34।।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥35॥

सन्दर्भ– प्रस्तुत श्लोक में परधर्म की अपेक्षा स्वधर्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया जा रहा है।

अन्वय– स्वनुष्ठितात् परधर्मात् विगुणः स्वधर्मः श्रेयान्। स्वधर्मे निधनं श्रेयः (अस्ति)। परधर्मः भयावहः (वर्तते)।।35।।

पदार्थ– स्वनुष्ठितात्=सम्यक् रूप से अनुष्ठित, परधर्मात्=परधर्म से, विगुणः=अङ्गविहीन. स्वधर्मः=स्वकीय धर्म, श्रेयान्=श्रेयस्कर है। स्वधर्मे=अपने धर्म में, निधनम्=मरण भी, श्रेयः=कल्याणकर (अस्ति) है। (परन्तु) परधर्मः=परधर्म, भयावहः=भयावह, (वर्तते) होता है।।35।।

व्याख्या– नियमानुसार भली-भाँति अनुष्ठित परधर्म की अपेक्षा अपना विकल धर्म भी श्रेष्ठ है। इसलिये अपने धर्म में रहकर मर जाना अच्छा है, पर पराया धर्म भयभीतकारी होता है।।35।।

विशेष–

1. **स्वधर्मे निधनं श्रेयः–** युद्धादि स्वधर्म को दुःखरूप समझकर तथा यथावत् पालन में

असमर्थ होकर अहिंसा आदि परधर्म को सुकर मानकर उसमें प्रवृत्त होने की इच्छा वाले अर्जुन के प्रति उपदेश का यह समापनवाक्य है कि हे अर्जुन! स्वधर्म का पालन मर्यादोचित है। इसका कारण यह है कि स्वधर्म युद्धादि में प्रवर्तमान होकर मरण भी श्रेष्ठ है क्योंकि वह स्वर्गादि को प्रदान करता है। परन्तु परधर्म निषिद्ध है, क्योंकि वह नरक में ले जाने के कारण भयावह है।।35।।

अर्जन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।

अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥36॥

सन्दर्भ– प्रस्तुत श्लोक में अर्जुन प्रश्न करता है कि किसकी प्रेरणा से व्यक्ति पाप करता है? हे श्रीकृष्ण मेरी इस शंका का समाधान कीजिए।

अन्वय– अर्जुन उवाच। वार्ष्णेय! अथ केन प्रयुक्तः अयं पूरुषः अनिच्छन् अपि बलात् नियोजितः इव पापं चरति।।36।।

पदार्थ– अर्जुन उवाच=अर्जुन बोले–वार्ष्णेय! हे कृष्णवंशोत्पन्न! अथ=तब, केन=किसके द्वारा, प्रयुक्तः=प्रेरित होकर, अयम्=यह, पूरुषः=मनुष्य, अनिच्छन् अपि=इच्छा न करते हुए भी, बलात्=बलपूर्वक, नियोजितःइव=प्रेरित हुआ सा, पापम् चरति=पाप का आचरण करता है।।36।।

व्याख्या–अर्जुन ने कहा–भगवन्! किस बलवान् के द्वारा प्रेरित होकर यह पुरुष इच्छा न रहने पर भी प्रबल राजा या अन्य द्वारा बलात्कारपूर्वक नियुक्त भृत्य की तरह पाप का आचरण करता है।।36।।

विशेष–

1. **'अथ'** पृथक् प्रश्न के प्रारम्भ के लिये 'अथ' शब्द प्रयुक्त है। अर्जन जानता है कि संसार के कारण को जानकर ही पण्डित उसका उपाय से परिहार कर सकते हैं।

2. **'वार्ष्णेय!'** ब्रह्मज्ञानियों में ब्रह्मानन्दरूप अमृत को जो बरसाता है, वह वृष्णि कहलाता है अर्थात् सम्यग् बोध, उससे जो जाना जाता है, वह 'वार्ष्णेय' है। यह परमात्मा श्रीकृष्ण का सम्बोधन है।।36।।

श्रीभगवानुवाच

काम एव क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।

महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥37॥

सन्दर्भ– पूर्व श्लोक में पूछे गये प्रश्न के उत्तर में श्रीकृष्ण अर्जुन के प्रति काम और क्रोध में सर्वानर्थहेतुत्व का निरूपण कर रहे हैं।

अन्वय– श्रीभगवान् उवाच एषः कामः एषः क्रोधः रजोगुणसमुद्भवः। महाशनः महापाप्मा इह एनं वैरिणं विद्धि।।37।।

पदार्थ– श्रीभगवान् उवाच=श्रीभगवान् बोले–एषःकामः=यह काम, एषः क्रोधः=यह क्रोध,

रजोगुण- समुद्भवः=रजोगुण से उत्पन्न हैं। महाशनः=अपरिमित भोग से भी जिसकी क्षुधा-निवृत्ति नहीं होती वह, महापाप्मा=अतिउग्र, इह=मोक्षमार्ग में, एनम्=इसको, वैरिणम्=शत्रु, विद्धि=जानो।।37।।

व्याख्या– भगवान् ने कहा– रजोगुण से उत्पन्न हुआ यह काम (वैषयिक प्रबल अभिलाष) ही क्रोध के रूप में परिणत हो जाता है। वह कभी भी तृप्त नहीं होता है। इसी से मनुष्यों को बड़े-बड़े दोष प्राप्त होते हैं। इसलिये इस लोक में इसे मुमुक्षु का वैरी समझो।।37।।

विशेष–

1. **'एषः'** सबकी प्रवृत्ति का कारण काम है। यह काम सबको प्रत्यक्ष है। इस अभिप्राय से **'एषः'** पद से इसका प्रत्यक्ष निर्देश किया है।

2. **'कामः'** योग्यत्व और अयोग्यत्व के विचार के विना देखी और सुनी गई वस्तु की जो पुरुष में कामना उत्पन्न कराता है, वह काम है। यहां पर विषयों की प्रबल इच्छा काम शब्द से कही गई है।

3. **'क्रोधः'** वह काम ही किसी के द्वारा अपने विषय में प्रतिबद्ध करने पर क्रोध रूप से परिणत हो जाता है, बदल जाता है, इसलिये यह क्रोध भी काम ही है।

4. **'महाशनः'** 'महत्' अर्थात् इयत्तारहित उपभोगरूप 'अशन' जिसका हो, वह 'महाशन' अर्थात् कभी भी तृप्त न होने वाला भाव है।

5. **'महापाप्मा'** महान् पाप (दोष) जिससे पुरुष को प्राप्त होता है, वह महापाप्मा कहलाता है।।37।।

धूमेनाऽऽव्रियते वह्निर्यथाऽऽदर्शो मलन च।

यथोल्बेनाऽऽवृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्।।38।।

सन्दर्भ– ज्ञान कामरूप शत्रु से आवृत्त रहता है, इसे लौकिक दृष्टान्तों से स्पष्टीकृत किया जा रहा है।

अन्वय– यथा वह्निः धूमेन आव्रियते, यथा आदर्शः मलेन च (आव्रियते), यथा गर्भः उल्वेन (आव्रियते), तथा तेन (कामेन) इदं (ज्ञानं) आवृतम्।।38।।

पदार्थ– यथा=जिस प्रकार, वह्निः=अग्नि, धूमेन=धूम के द्वारा, आव्रियते=आवृत होता है, यथा=जिस प्रकार, आदर्शः=दर्पण, मलेन च=मल के द्वारा, आव्रियते=आवृत होता है, यथा=जिस प्रकार, गर्भः=गर्भ, उल्वेन=जरायु द्वारा , आव्रियते=आवृत होता है, तथा=उसी प्रकार, तेन=उस काम के द्वारा, इदम्=यह ज्ञान, आवृतम्=आवृत होता है।।38।।

व्याख्या– जैसे मलिन धूम से प्रकाशरूप अग्नि आच्छादित रहता है जैसे लेप करने वाले मल से अर्थात् धूलिकण से दर्पण आच्छादित रहता है, और जैसे अचेतन जरायु से चेतन गर्भ आवृत होता है, वैसे ही पूर्वोक्त अप्रकाशरूप लेप करने वाले और अचेतन काम से पुरुष का चेतनतुल्य यह ज्ञान धूमिल रहता है।।38।।

विशेष–

1. **'तेनेदमावृतम्'** जिस प्रकार सहोत्पन्न धूम अग्नि को, आगन्तुक मल दर्पण को और जरायु गर्भ को आवेष्टित करता है। वैसे ही काम के द्वारा तीनों प्रकार से यह विवेकज्ञान आवृत रहता है।38।।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।

कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणाऽनलेन च ।।39।।

सन्दर्भ– दुर्विज्ञेय एवं दुर्जेय काम के ज्ञानाच्छादन स्वरूप को स्पष्ट किया जा रहा है।

अन्वय– कौन्तेय! ज्ञानिनः नित्यवैरिणा दुष्पूरेण अनलेन च एतेन कामरूपेण ज्ञानम् आवृतम्।।39।।

पदार्थ– कौन्तेय=हे कौन्तेय!, ज्ञानिनः=ज्ञानी के, नित्यवैरिणा=चिरशत्रु, दुष्पूरेण=दुष्पूरणीय, अनलेन च=अग्निस्वरूप, एतेन कामरूपेण=इस काम के द्वारा, ज्ञानम्=ज्ञान, आवृतम्=आवृत रहता है।।39।।

व्याख्या– हे कौन्तेय! अग्नि के समान कभी तृप्त न होने वाले, ज्ञानी के वैरी इस काम से ज्ञान आवृत है। अर्थात् जैसे कीचड़ जल को आवृत करता है अथवा राहु चन्द्र को आवृत करता है, वैसे ही ब्रह्म को ग्रहण करने वाली बुद्धिवृत्ति को काम आवृत करता है।।39।।

विशेष–

1. **'अनल'** निरन्तर विषयों के सेवन से भी जिसको अलंभाव (तृप्ति) न हो, वह 'अनल' कहलाता है। अथवा हृदय के भीतर जो अग्नि के समान काम करता है वह 'अनल' कहलाता है। अनल अग्नि का पर्याय है।

2. **'दुष्पूर'** जिसके अभीष्ट की प्राप्ति दुःख से भरी है, वह 'दुष्पूर' कहलाता है। अथवा इच्छित की अप्राप्ति में पुरुष को दुःख से जो पूर्ण करता है, वह 'दुष्पूर' कहलाता है।

3. **'काम'** कामरूप से जो चाहा जाता है, वह 'काम' कहलाता है। अर्थात् अर्थात् विषय, उसी को सर्वत्र जो दिखलाता है और ब्रह्म को कभी भी नहीं दिखलाता है, वह 'काम' कहलाता है। काम ज्ञानी का नित्य वैरी है।

4. **'वैरी'** सदा बाह्य आलम्बन का हेतु होने से प्रतिकूल होने के कारण अथवा वह ग्रहण के साधन ज्ञान को ढंकने वाला होने से काम की नित्य 'वैरी' कहा जाता है।

5. **'आवृतं ज्ञानम्'** इस नित्य वैरीभूत काम में 'ज्ञान' अर्थात् ब्रह्म का ग्रहण कराने वाली बुद्धिवृत्ति उसी प्रकार आच्छादित है जिस प्रकार कीचड़ से जल एवं राहु से चन्द्रबिम्ब आवृत होता है,यह अभिप्रेत अर्थ है।।39।।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याऽधिष्ठानमुच्यते।

एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्।।40।।

सन्दर्भ– प्रस्तुत श्लोक में 'काम' के अधिष्ठान (आधार) का निरूपण किया जा रहा है।

अन्वय– इन्द्रियाणि मनः बुद्धिः अस्य अधिष्ठानम् उच्यते। एषः एतैः ज्ञानम् आवृत्य देहिन विमोहयति।।40।।

पदार्थ– इन्द्रियाणि मनः बुद्धि=इन्द्रिय, मन और बुद्धि, अस्य=इस काम का, अधिष्ठानम्=आविर्भाव स्थल, उच्यते=कहलाता है। एषः=यह काम, एतैः=इन इन्द्रियादियों के द्वारा, ज्ञानम्=विवेकज्ञान को, आवृत्य=आच्छादित करके, देहिनम्=देहाभिमानी जीव को, विमोहयति=विमुग्ध करता है।।40।।

व्याख्या– चक्षु आदि इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इस काम के आश्रयस्थल हैं और इन्हीं इन्द्रिय आदि के व्यापार द्वारा यह काम देहात्मबुद्धि करने वाले को, चाहे वह ज्ञानी हो अथवा अज्ञानी, विमोहित करता है।।40।।

विशेष–

1. **'अधिष्ठानम्'** ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, मन, अहंकार और बुद्धि– ये तेरह करण काम के आश्रय (अधिष्ठान) कहे गये हैं। तत्-तत् विषयों की ओर प्रवृत्त ये तेरह करण काम के जनक हैं। प्रतिच्छाया की भाँति करणों का अनुकरण करता 'काम' देही पुरुष को विमोहित करता है।।40।।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।

पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ 41॥

सन्दर्भ– मुमुक्षु को काम का निःशेष विनाश करना चाहिये, ऐसा श्रीकृष्ण का अर्जुन के प्रति उपदेश वर्णित है।

अन्वय– भरतर्षम! तस्मात् त्वं आदौ इन्द्रियाणि नियम्य ज्ञानविज्ञाननाशनं पाप्यानम् एवं हि प्रजहि।।41।।

पदार्थ– भरतर्षभ= हे भरतश्रेष्ठ! तस्मात्=इसलिये, त्वम्=तुम, आदौ=सर्वप्रथम, इन्द्रियाणि=इन्द्रियों को, नियम्य=संयत करके, ज्ञानविज्ञाननाशनम्=ज्ञान और विज्ञान के विनाशक, पाप्मानम्=पापरूप, एवं हि= इस काम को ही, प्रजहि=विनष्ट (परित्यक्त) करो।।41।।

व्याख्या– इसलिये हे भरतकुलावतंस अर्जुन! पहले इन्द्रियों का नियमन करके तुम इस पापी काम को, जो ज्ञान और विज्ञान दोनों का नाश करने वाला है,मार डालो।।41।।

विशेष

1. काम की निःशेषनिवृत्ति हुए विना बुद्धि की स्थिरता नहीं हो सकती है।

2. स्थिर बुद्धि के विना विशुद्ध ज्ञान नहीं हो सकता है।

3. विशुद्ध ज्ञान के विना मोक्ष नहीं होता है।

इस क्रम का अवलोकन कर मुमुक्षु को काम के ऊपर अवश्य विजय प्राप्त करनी चाहिए।

4. **'भरतर्षभ'**– हे भरतकुलश्रेष्ठ अर्जुन! जिस कारण तुम भरत राजा के महावंश में जन्म ग्रहण हो, उस कारण मैं तुम्हें अब जो उपदेश दे रहा हूँ, उसे पालन करने में तुम निश्चय ही समर्थ हो–इसे ही सूचित करने के लिये श्रीकृष्ण ने अर्जुन को भरतर्षभ कहकर सम्बोधित किया है।

5. **ज्ञानविज्ञाननाशनम्**– काम ज्ञान और विज्ञान का नाशक है। काम से ज्ञान-विज्ञान प्रतिबन्धित रहता है। शास्त्र और आचार्य के उपदेश से उत्पन्न आत्मविषयकबोध 'ज्ञान' कहलाता है और निदिध्यासन से उत्पन्न आत्मविषयक बोध 'विज्ञान' कहलाता है। आत्मविषयक दोनों ज्ञानों में अन्तर यह है कि पहला परोक्षज्ञान और दूसरा अपरोक्षज्ञान कहलाता है। शब्दान्तर में **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** यह परोक्षज्ञान है और **'अहं ब्रह्मास्मि'** अपरोक्षज्ञान है। सरल शब्दों में स्वानुभव का ज्ञान ही विज्ञान में परिणत होता है। पञ्चदशी में दिखा है–

अस्ति ब्रह्मेति चेत् ज्ञानं परोक्षज्ञानमुच्यते।

अहं ब्रह्मास्मि ज्ञानमपरोक्षज्ञानमुच्यते॥

ज्ञान-विज्ञान का नाशक होता है ऐसा दुर्जेय पापिष्ठ 'काम' जेतव्य है।।41।।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।

मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥42॥

सन्दर्भ– प्रस्तुत श्लोक में इन्द्रिय आदि से आत्मा की भिन्नता का निरूपण किया जा रहा है।

अन्वय– इन्द्रियाणि पराणि आहुः। इन्द्रियेभ्यः मनः परम्। मनसः तु बुद्धिः परा यः तु बुद्धेः परतः सः।।42।।

पदार्थ– इन्द्रियाणि=इन्द्रियों को, पराणि=देह से श्रेष्ठ, आहुः=कहा गया है। इन्द्रियेभ्यः=इन्द्रियों से , मनः=मन, परम्=श्रेष्ठ है। मनसः तु=किन्तु मन से, बुद्धिः परा = श्रेष्ठ बुद्धि है। यः तुः= परन्तु जो, बुद्धेः परतः=बुद्धि से श्रेष्ठ है, सः= वह आत्मा है।।42।।

व्याख्या– विषयों की अपेक्षा इन्द्रियाँ 'पर' श्रेष्ठ हैं, इन्द्रियों से मन श्रेष्ठ है, मन की अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है और जो बुद्धि से 'पर' है अर्थात् साक्षी रूप से अवस्थित होकर बुद्धि आदि का जो प्रकाश करता है, वह 'आत्मा' है।।42।।

विशेष–

1. **येन यत्प्रकाश्यते प्रवर्त्यते च तत्तदपेक्ष्य परं (व्यापकं सूक्ष्मं भिन्नञ्च) भवति,** अर्थात् जिससे जो प्रकाशित किया जाता है, प्रवृत्त किया जाता है वह प्रकाशक और प्रवर्तक 'पर' कहलाता है और प्रकाश्य और प्रवर्त्य वस्तु 'अपर' कहलाती है। 'पर' वस्तु व्यापक सूक्ष्म और अपर से भिन्न होती है। इस न्याय से देहादि के क्रम से आत्मतत्त्वपर्यन्त 'परत्व' के सिद्धान्त को क्रमशः देह-इन्द्रिय-मन-बुद्धि-आत्मा रूप से मूल्यांकित किया गया है।

'बुद्धेः परतस्तु सः' यह श्लोक का उपदिष्ट अंश है। हे अर्जुन! सबसे पर, सबके द्रष्टा,

इसीलिये देह इन्द्रियादि से भिन्न, सबके प्रकाशक, चिदानन्दैकरस, सन्मात्र और परिपूर्ण इस अपने आत्मा को जानो, यह अर्थ है।।42।।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्याऽऽत्मानमात्मना।

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥43॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः॥3॥

सन्दर्भ– आत्मज्ञान से कामरूप शत्रु का विनाश करना चाहिये, का उपदेश श्रीकृष्ण कर रहे हैं।

अन्वय– हे महाबाहो! एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा आत्मना आत्मानं संस्तभ्य कामरूपं दुरासदं शत्रुं जहि।।43।।

पदार्थ– महाबाहो! हे महाबली अर्जुन!, एवम्=इस प्रकार, बुद्धेः=बुद्धि से, परम्=श्रेष्ठ आत्मा को, बुद्ध्वा=जानकर, आत्मना=बुद्धि के द्वारा, आत्मानम्=मन को, संस्तभ्य=स्थिर करके, कामरूपम्=कामरूप, दुरासदम्=दुर्जय, शत्रुम्=शत्रु को जहि=विनष्ट करो।।43।।

व्याख्या– हे महाबाहो! बुद्धि आदि सम्पूर्ण दृश्यों से विलक्षण अखण्डैकरस आत्मा को जानकर और अन्तःकरण को उस आत्मा के साथ संयुक्त कर कामरूप दुर्जय शत्रु का नाश करो।।43।।

विशेष–

1. **'महाबाहो!'** यह विशेषण कामरूप शत्रु को मारने में मुमुक्षु की चतुराई दिखलाने के लिये है।

2. **'कामरूपं दुरासदम्'** भिन्न-भिन्न विषयों का ग्रहण ही काम की उत्पत्ति का कारण है और सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि से उनका ग्रहण न करना ही काम के विनाश का हेतु है। इसलिये सबको ब्रह्म ही देखते हुए काम का निर्मूलन करो, यह अर्थ है।

3. **'परं बुद्ध्वा'**– इस अंश से यह सिद्ध होता है कि मोक्ष का हेतु ज्ञानयोग प्रधान है और कर्मयोग गौण है। अतः इस अध्याय का ज्ञानयोग में पर्यवसाय होने से यह अध्याय ज्ञानयोगपरक ही है। कर्मयोगमीमांसा ज्ञानयोग के पुष्टिवर्धन के लिये है।।43।।

इस प्रकार भगवद्गीता-उपनिषद् में ब्रह्मविद्या के योगशास्त्र के अन्तर्गत श्रीकृष्णार्जुन संवाद का 'कर्मयोग' नामक तृतीय अध्याय सम्पन्न होता है।।43।।

7.9 मूल्यांकन

श्रीमद्भगवद्गीता संस्कृत वाङ्मय का एक अत्यन्त लोकप्रिय ग्रन्थ है। यही एक ऐसा महनीय ग्रन्थ है, जिसमें दर्शन, धर्म और नीति का समन्वय हुआ है। गीता भारतीय दर्शन का अमूल्य

ग्रन्थ है, उसकी जितनी भी महत्ता प्रतिपादित की जाय, उतनी कम है। विश्व साहित्य में ऐसे ग्रन्थ की दुर्लभता ने ही पाश्चात्य विद्वानों को इसकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करने के लिये प्रेरित किया है। पश्चात्वर्ती धार्मिक तथा दार्शनिक आचार्यों ने अपने-अपने मतानुसार गीता के निगूढ रहस्य को अपनी दृष्टि से अभिव्यक्त करने का भगीरथ प्रयास किया है। गीता ज्ञान-कर्म-भक्ति की त्रिवेणी कही जाती है, परन्तु इस पर लिखे गये भाष्य, वृत्ति, टीका, प्रटीका रूप व्याख्याग्रन्थों के आधिक्य से इसकी शास्त्रीय क्लिष्टता बढ़ती ही चली गई। भगवद्गीता का मूल्यांकन वस्तुतः ग्रन्थ का मूल्यांकन नहीं है, अपितु इससे अध्येताओं के आचार-विचार, ज्ञान-विज्ञान, भौतिक-आध्यात्मिक, विचारों के मूल्यांकन का मार्ग प्रशस्त होता है।

7.10 सारांश

जैसे दुग्ध का सारांश नवनीत, तिल का सारांश तेल, समुद्र का सारांश रत्न, ईख का सारांश मधुरिमा, जीवन का सारांश मोक्ष है वैसे ही श्रीमद्भगवद्गीता का सारांश शरणागति है, जो श्रीकृष्ण के मुखारविन्द से अर्जुन के प्रति अभिव्यक्त हुआ है। ज्ञान-कर्म-भक्ति की त्रिवेणी में स्नात अर्जुन अपने को श्रीकृष्ण के निकट ही नहीं, अपितु प्रभु से अपने को अभिन्न पाता है। भक्त की भक्ति का सुपरिणाम है प्रभुप्राप्ति। दार्शनिक शब्दावली में जीव का ब्रह्म से तदाकार हो जाना। सम्पूर्ण गीता ग्रन्थ इसी विषय-सारांश का आलोडन करता है।

7.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

गीतारहस्य बालगंगाधर तिलक, पूना 1988

गीता का तात्त्विक विवेचन, भास्करानन्द लोहना, उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1975

श्रीमद्भगवद्गीता का जीवन-दर्शन, ब्रज बिहारी निगम, कावेरी शोध संस्थान, उज्जैन 1993

श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीकृष्णपन्तशास्त्री अच्युत ग्रन्थभाषा कार्यालय, काशी, सं0 2023

प्रश्न– भगवद्गीता में कुल कितने अध्याय हैं?

प्रश्न– भगवद्गीता का प्रतिपाद्य विषय क्या है?

प्रश्न–भगवद्गीता का सम्बन्ध किस प्राचीन ग्रन्थ से है?

प्रश्न– भगवद्गीता के अनुसार द्वितीय अध्याय का सारांश लिखिये।

प्रश्न– भगवद्गीता के अनुसार तृतीय अध्याय का सार लिखिए।

प्रश्न– भगवद्गीता के प्रमुख दार्शनिक बिन्दुओं पर प्रकाश डालिए।

प्रश्न– भगवद्गीता पर कौन-कौन सी प्रमुख संस्कृत टीकाएं लिखी गई हैं।

प्रश्न– संजय कौन थे?

प्रश्न– अर्जुन युद्ध करने के लिये क्यों तैयार नहीं था?

175

NOTES